॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरके द्वारा प्रकाशित

श्रीरामचरितमानसका पाठ

तथा

मानस-व्याकरण

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

[गीताप्रेस, गोरखपुरके द्वारा प्रकाशित]

श्रीरामचरितमानसका पाठ

तथा

मानस-व्याकरण

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१२ प्रथम संस्करण २,०००
सं० २०१२ द्वितीय संस्करण ३,०००
कुल ५,०००

मूल्य ।) चार आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

गोरखपुर, गीताप्रेससे प्रकाशित

श्रीरामचरितमानसका पाठ और मानस-व्याकरण

निवेदन

गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित श्रीरामचरितमानसको हमारे मानसप्रेमी देशवासी बड़े चावसे पढ़ते हैं और उसका बहुत आदर करते हैं। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। गीताप्रेससे प्रकाशित मानसके पाठके सम्बन्धमें समय-समयपर हमारे सुहृद् पाठक प्रायः निम्नलिखित प्रश्न किया करते हैं--

(१) इसमें कई जगह चौपाइयाँ छोड़ क्यों दी गयी हैं?

(२) संस्कृतके शुद्ध शब्दोंको अशुद्ध क्यों लिखा गया है--जैसे 'शिव'को 'सिव', 'शङ्कर'को 'संकर', 'दर्शन'को 'दरसन' और 'यथार्थ'को 'जथारथ' आदि।

(३) अकारान्त शब्दोंको उकारान्त क्यों लिखा गया है--जैसे 'राम'को 'रामु', 'यश'को 'जसु' आदि।

(४) शब्दोंपर अनावश्यक चन्द्रबिन्दु क्यों लगाये गये हैं--जैसे गवँहिं, सपनें, भोरें, रायँ, सुभायँ, सेवाँ, लरिकाईं आदि।

इन प्रश्नोंके उत्तर पत्रोंद्वारा दिये जाते हैं और यह निवेदन किया जाता है कि 'हमने चौपाइयाँ छोड़ीं नहीं, केवल क्षेपक निकाले हैं तथा प्राचीन प्रतियोंके अनुसार ही पाठ रक्खा है; जिस भाषाका काव्य है, उसी भाषाके अनुसार शुद्ध शब्द रक्खे गये हैं; शब्दोंको उकारान्त लिखना तथा जहाँ-तहाँ

शब्दोंपर चन्द्रबिन्दु लगाना भी व्याकरणसम्मत तथा सहैतुक है'; पर इतनेसे सारी बातें ठीक-ठीक समझमें नहीं आतीं। कुछ सज्जन तो इसको प्रूफकी भूल मानकर ही भ्रष्ट छपाईकी दृष्टिसे हमलोगोंको प्रेमपूर्वक डाँटा करते हैं। अतएव हमने किन-किन प्रतियोंसे पाठ लिया है; वे प्रतियाँ कैसी थीं तथा शब्दोंके रूप और उनपर चन्द्रबिन्दु क्यों लगाये गये हैं आदि सभी बातोंकी पूरी जानकारी हो जाय, इस उद्देश्यसे यह पुस्तिका प्रकाशित की जाती है। इसमें पाठका आधार तथा 'मानस-व्याकरण' दिया गया है। आशा है, इससे उपर्युक्त और ऐसी ही अन्यान्य शङ्काओंका समाधान हो जायगा। हम कभी यह दावा नहीं करते कि हमारा पाठ श्रीतुलसीदासजी महाराजके लिखे हुए पाठकी पूरी नकल है; क्योंकि उनके हाथकी लिखी तो कोई प्रति हमें मिली ही नहीं। हाँ, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हमें जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हुई, उसका हमलोगोंने अपनी समझसे ईमानदारीके साथ उपयोग किया है। जान-बूझकर पाठ बदलने, कम-ज्यादा करने या शब्दोंका रूप बदलनेकी मनमानी चेष्टा नहीं की है। आशा है कृपालु पाठकगण हमारी परिस्थितिको समझकर क्षमा करेंगे।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

श्रीहरिः

[गीताप्रेस, गोरखपुरके द्वारा प्रकाशित]

श्रीरामचरितमानसका पाठ

श्रीरामचरितमानसका स्थान हिंदी-साहित्यमें ही नहीं, जगत्के साहित्यमें निराला है। इसके जोड़का, ऐसा ही सर्वाङ्ग-सुन्दर, उत्तम काव्यके लक्षणोंसे युक्त, साहित्यके सभी रसोंका आस्वादन करानेवाला, काव्यकलाकी दृष्टिसे भी सर्वोच्च कोटिका तथा आदर्श गार्हस्थ्य-जीवन, आदर्श राजधर्म, आदर्श पारिवारिक जीवन, आदर्श पातिव्रत-धर्म, आदर्श भ्रातृधर्मके साथ-साथ सर्वोच्च भक्ति, ज्ञान, त्याग, वैराग्य तथा सदाचारकी शिक्षा देनेवाला, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, युवा—सबके लिये समान उपयोगी एवं सर्वोपरि सगुण, साकार भगवान्की आदर्श मानवलीला तथा उनके गुण, प्रभाव, रहस्य तथा प्रेमके गहन तत्त्वको अत्यन्त सरल, रोचक एवं ओजस्वी शब्दोंमें व्यक्त करनेवाला कोई दूसरा ग्रन्थ हिंदी-भाषामें ही नहीं, कदाचित् संसारकी किसी भाषामें आजतक नहीं लिखा गया। यही कारण है कि जिस चावसे गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, गृहस्थ-संन्यासी, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध—सभी श्रेणीके लोग इस ग्रन्थरत्नको पढ़ते हैं, उतने चावसे और किसी ग्रन्थको नहीं पढ़ते तथा भक्ति, ज्ञान, नीति, सदाचारका जितना प्रचार जनतामें इस ग्रन्थसे हुआ है उतना कदाचित् और किसी ग्रन्थसे नहीं हुआ। जिस ग्रन्थका जगत्में इतना मान हो, उसके अनेकों संस्करणोंका छपना तथा उसपर अनेकों टीकाओंका लिखा जाना स्वाभाविक ही है। इस नियमके अनुसार रामचरित-मानसके भी आजतक सैकड़ों संस्करण छप चुके हैं। इसपर सैकड़ों ही टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। अबतक अनुमानसे इसकी करोड़ों प्रतियाँ छप चुकी होंगी और अंग्रेजीके बाइबलको छोड़कर, जिसके प्रचारके लिये हमारे ईसाई भाई विशेष उद्योग तथा असंख्य धनराशि व्यय करते हैं, कदाचित् इतनी प्रतियाँ संसारके किसी भी ग्रन्थकी नहीं छपी होंगी। आये दिन इसका एक-न-एक

नया संस्करण देखनेको मिलता है और उसमें अन्य संस्करणोंकी अपेक्षा कोई-न-कोई विशेषता रहती है। इसके पाठके सम्बन्धमें भी रामायणी विद्वानोंमें बहुत मतभेद है, यहाँतक कि कई स्थलोंमें तो प्रत्येक चौपाईमें एक-न-एक पाठभेद भिन्न-भिन्न संस्करणोंमें मिलता है। जितने पाठभेद इस ग्रन्थके मिलते हैं, उतने कदाचित् किसी प्राचीन ग्रन्थके नहीं मिलते। इससे भी इसकी सर्वोपरि लोकप्रियता सिद्ध होती है। ऐसी दशामें मानसके सम्पादकका काम कितना कठिन और दायित्वपूर्ण हो जाता है, इसका अनुमान वही लोग कर सकते, हैं, जिन्होंने इस दिशामें कुछ कार्य किया है अथवा जिन लोगोंने इस ग्रन्थका इस दृष्टिसे अध्ययन किया है।

हिंदी-साहित्यमें जो स्थान रामचरितमानसको प्राप्त है। करीब-करीब वही स्थान संस्कृत-साहित्यमें गीताको प्राप्त है। गीताके भी अबतक संसारकी प्रायः सभी प्रधान भाषाओंमें अनुवाद तथा सैकड़ों संस्करण एवं लाखों प्रतियाँ मुद्रित हो चुकी हैं। अकेले गीताप्रेससे ही अबतक गीताके विभिन्न संस्करणोंकी ६१ लाखसे ऊपर प्रतियाँ निकल चुकी हैं और निकलती ही जाती हैं। गीताके साथ-साथ यहाँकी अन्य पुस्तकोंको भी जनताने जिस उत्साह और प्रेमके साथ अपनाया है, उससे गीताप्रेसको बहुत उत्साह मिला है और भविष्यमें आशा है कि वह इस प्रकारके ग्रन्थोंका प्रकाशन और भी उत्साह एवं मनोयोगके साथ कर सकेगा। गीताकी ही भाँति मानसके भी कई छोटे, बड़े, शुद्ध, प्रामाणिक, सस्ते, सचित्र तथा सरल अनुवादसहित संस्करण गीताप्रेससे निकलें—यह कई वर्षोंसे जनताकी इच्छा रही है और जनताकी इसी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये कई वर्षोंसे गीताप्रेस इस चेष्टामें था कि गीताकी भाँति मानसका भी शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ अनुवादसहित यहाँसे निकले और उसे सस्ते-से-सस्ते मूल्यपर बेचा जाय; परंतु मानसके पाठका प्रश्न इतना जटिल था कि उसे हल करनेमें प्रेसको बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। मानसके अबतक जितने संस्करण निकल चुके हैं तथा उसकी जितनी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ जहाँ-तहाँ उपलब्ध हैं, उनके पाठोंमें इतना अन्तर है कि हमारे लिये यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो गया कि कौन-सी प्राचीन

हस्तलिखित प्रति तथा मुद्रित संस्करणोंमेंसे कौन-सा संस्करण अधिक शुद्ध एवं प्रामाणिक माना जाय। सभी संस्करण अपनी-अपनी दृष्टिसे अच्छे हैं और सभीने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अपने संस्करणको शुद्ध-से-शुद्ध एवं अधिक-से-अधिक प्रामाणिक बनानेकी चेष्टा की है। ऐसी दशामें किसको ठीक और किसको बेठीक कहा जाय? प्राचीन प्रतियोंमें भी सबका पाठ एक-सा नहीं है और स्वयं गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई अथवा उनके द्वारा प्रमाणित कोई प्रति अबतक मिली नहीं। राजापुरमें स्थित अयोध्याकाण्डकी प्रति तथा मलिहाबादमें स्थित मानसकी पूरी प्रति गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई कही जाती है; किंतु दोनोंमें ही कहीं लेखकका नाम अथवा लिखनेकी तिथि नहीं मिलती, जिससे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह स्वयं गोस्वामीजीके ही हाथकी लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त काशीके सरस्वती-भवनमें गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई वाल्मीकीय रामायणकी जो प्रति बतलायी जाती है, उसकी लिपि भी उक्त दोनों प्रतियोंकी लिपिसे नहीं मिलती। फिर राजापुरकी प्रति हमलोगोंने स्वयं देखी है और उसमें कई भूलें इस प्रकारकी देखनेको मिली हैं, जिनको देखते हुए मन इस बातको पूर्णतया स्वीकार नहीं करता कि वह प्रति स्वयं गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई है। हाँ, उसे गोस्वामीजीके कालकी माननेमें कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। 'कल्याण'के 'मानसाङ्क'के प्रकाशनके समय अवधप्रान्तके अन्तर्गत दुलही नामक ग्रामसे हमें मानसके सुन्दरकाण्डकी एक प्रति मिली, जिसपर संवत् १६७२ लिखा हुआ है और जो स्वयं गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई बतायी जाती है—यद्यपि उसपर कहीं भी गोस्वामीजीकी सही नहीं मिलती। उसकी लिपि सरस्वती-भवनमें सुरक्षित गोस्वामीजीके द्वारा लिखित वाल्मीकीय रामायणकी लिपिसे बहुत-कुछ मिलती है और पाठ भी कई अंशोंमें शुद्ध मालूम होता है, यद्यपि कई जगह उसमें भूलें भी ऐसी पायी जाती हैं, जिनसे उसे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई माननेमें हिचकिचाहट होती है। परंतु उसे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी न भी मानें, तब भी वह उनके जीवनकालकी तो है ही और इस दृष्टिसे भी उसका महत्त्व कम नहीं है।

इन सब बातोंको देखते हुए उपलब्ध प्रतियोंमेंसे कोई-सी भी प्रति निश्चित-रूपसे गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई नहीं कही जा सकती। दुलहीके सुन्दरकाण्डके अतिरिक्त गोस्वामीजीके जीवनकालकी बालकाण्डकी भी एक प्रति मिलती है, जो अयोध्याजीके श्रावणकुञ्ज नामक स्थानमें सुरक्षित है और जो संवत् १६६१ की लिखी हुई है। उसे भी देखनेका सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त हुआ है और उसकी एक अत्यन्त शुद्ध एवं प्रामाणिक प्रतिलिपि हमें मानसपीयूषके सम्पादक श्रद्धेय महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीसे प्राप्त हुई है, जिससे हमें बालकाण्डके सम्पादनमें अमूल्य सहायता मिली है और जिसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड तथा सुन्दरकाण्डके अतिरिक्त और किसी काण्डकी इतनी प्राचीन प्रति नहीं मिलती। पीछेकी प्रतियोंमें सबसे अधिक प्राचीन प्रति काशिराजकी बतलायी जाती है, जो सं० १७०७ की लिखी हुई है; किंतु उसमें क्षेपक मिले हुए मालूम होते हैं। इसके अतिरिक्त उसमें ऐसी और भी कई बातें हैं, जिनके कारण वह प्रति अधिक विश्वसनीय नहीं जँचती। दूसरी प्रति सं० १७२१ की बतलायी जाती है, जिसकी दो प्रतिलिपियाँ श्रीभागवतदासजीने स्वयं अपने हाथोंसे की थीं और उस प्रतिसे उनका मिलान किया--ऐसा कहा जाता है। पं० रामगुलामजी द्विवेदी, श्रीछक्कनलालजी, श्रीवंदन पाठकजी तथा पं० रामकुमारजी आदिने भी इसी प्रतिका अनुसरण किया है-ऐसा माना जाता है। इन सब कारणोंसे बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और सुन्दर-काण्डको छोड़कर शेष काण्डोंके लिये श्रीभागवतदासजीकी प्रति ही उपलब्ध प्रतियोंमें सबसे अधिक विश्वसनीय तथा प्रामाणिक मानी जाती है। यह प्रति श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट, अयोध्यामें विद्यमान है और इसीकी एक अत्यन्त शुद्ध और प्रामाणिक प्रतिलिपि महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजीके द्वारा बड़े परिश्रमसे तैयार करायी हुई हमें प्राप्त हुई, जिससे हमें उक्त काण्डोंके सम्पादनमें बहुत अधिक सहायता मिली। इसके लिये भी हम उक्त महानु-भावके बड़े ऋणी हैं।

अयोध्याकाण्डके लिये सबसे अधिक विश्वसनीय प्रति राजापुरकी ही मालूम होती है, यद्यपि——जैसा ऊपर कहा जा चुका है - निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रति पूज्य गोस्वामीजीके हाथकी ही लिखी हुई है और उसमें भूलें भी अधिक हैं, तथापि अयोध्याकाण्डकी इससे अधिक अच्छी प्रति हमें नहीं प्राप्त हुई। इस पुस्तककी प्राचीनताके सम्बन्धमें हमारे मनमें कोई संदेह नहीं है । इसकी लिखावट तथा शैलीसे यही अनुमान होता है कि यह प्रति सम्भवतः पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीके समयकी ही होनी चाहिये। कम-से-कम काशिराजकी प्रति तथा १७२१ की प्रतिसे अवश्य ही वह अधिक प्राचीन मालूम होती है । बल्कि यह अनुमान भी असङ्गत नहीं मालूम होता कि वह गोस्वामीजीकी ही किसी प्रतिकी प्रतिलिपि है तथा सं० १६६१ की प्रतिसे भी कुछ पहलेकी है, क्योंकि वह उससे भी कई अंशोंमें अधिक शुद्ध एवं सुसङ्गत है । अवश्य ही प्रतिलिपि तैयार करनेमें बहुत-सी भूलें रह गयी हैं । बल्कि कहीं-कहीं शायद जान-बूझकर भी कुछ परिवर्तन किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि कहीं-कहीं तो उसका पाठ बहुत ही अशुद्ध और असङ्गत प्रतीत होता है । इन अशुद्धियोंको छोड़कर बाकीका अंश इस पुस्तकका बहुत शुद्ध तथा लिखनेकी शैली एवं बर्तनी बहुत अंशोंमें नियमित मालूम होती है । इस पुस्तककी भाषा तथा लेखनशैलीमें प्रायः सर्वत्र एक नियम-सा दृष्टिगत होता है, जिसे देखकर ही हमारे मनमें मानसका एक व्याकरण लिखनेकी भावना जाग्रत् हुई और इस दिशामें कुछ प्रयास भी किया गया जो 'श्रीरामचरितमानसका व्याकरण' नामसे इसीके साथ अन्तमें प्रकाशित है ।

अयोध्याकी बालकाण्डकी प्रति यद्यपि निश्चित रूपसे गोस्वामीजीके समयकी है; क्योंकि उसमें उसके लिखे जानेका संवत् तथा मिति भी दी हुई है, तथापि वह राजापुरके अयोध्याकाण्डसे अधिक शुद्ध नहीं है, बल्कि बर्तनी तथा भाषाकी दृष्टिसे तो राजापुरकी प्रति उसकी अपेक्षा अधिक शुद्ध है और इसीसे यह अनुमान होता है कि वह प्रति भी अयोध्याके बाल-

काण्डसे पुरानी नहीं तो कम-से-कम उतनी ही पुरानी तथा गोस्वामीजीके जीवनकालकी ही लिखी हुई अवश्य होनी चाहिये। और कुछ नहीं, तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रतिलिपिकी दृष्टिसे वह अधिक सावधानी तथा समझदारीके साथ लिखी गयी मालूम होती है; क्योंकि उसमें भाषाके नियमोंका पालन अयोध्यावाली प्रतिकी अपेक्षा अधिक हुआ है।

उक्त सामग्रीके आधारपर तथा अबतक मानसके जितने भी प्रधान-प्रधान संस्करण छप चुके हैं, उनका तुलनात्मक अध्ययन करके श्रीयुत पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री तथा पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी एम्० ए०की सहायता एवं सहयोगसे मानसका एक संशोधित पाठ तैयार किया गया, जो सर्वप्रथम 'कल्याण' के तेरहवें वर्षके प्रारम्भमें विशेषाङ्कके रूपमें अनुवादसहित प्रकाशित हुआ। उसमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह जानेपर भी मानस-प्रेमियोंने उसका कितना आदर किया, यह सब लोगोंको विदित ही है। इसके बाद मूल तथा अनुवादसहित कई संस्करण निकाले गये और उन सबकी अबतक २०,८६,७५० (बीस लाख छियासी हजार सात सौ पचास) प्रतियाँ निकल चुकी हैं। एक मूल संस्करण ऐसा भी निकाला गया था जिसमें पाठ-भेद तथा व्याकरण भी दिया गया था।

यों तो हमारा सारा ही प्रयास भूलोंसे भरा है। पूज्य गोस्वामीजीके हाथकी लिखी हुई पूरी प्रामाणिक प्रति प्रयास करनेपर भी अबतक न मिल सकनेके कारण शुद्ध पाठका दावा तो हमलोग कर ही नहीं सकते; इसके अतिरिक्त अपनी समझसे पूरी सावधानी बरती जानेपर भी पाठका निर्णय करनेमें तथा दृष्टिदोषसे भी बहुत-सी भूलें इस गीताप्रेसके हमारे पाठमें रह गयी होंगी। प्रूफकी भूलें भी रह जाती हैं। आशा है, कृपालु पाठक हमारी कठिनाइयोंको समझकर इसके लिये हमें क्षमा करेंगे। पाठके सम्बन्धमें हमें केवल इतना ही निवेदन करना है कि जो कुछ सामग्री हमें प्राप्त हो सकी, उसका हमलोगोंने अपनी समझसे ईमानदारीके साथ उपयोग किया है। हमारा यह आग्रह नहीं है कि भूल समझमें आनेपर भी आगे यही पाठ रक्खा जाय।

पाठके सम्बन्धमें हमें सर्वसाकेतवासी पूज्यपाद परमहंस श्रीअवधविहारी-दासजी महाराज (नागाबाबा), पूज्य पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, पूज्य श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी तथा पूज्य पं० श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणीसे बहुमूल्य परामर्श प्राप्त हुए थे। साकेतवासी सुहृद् श्रीरामदासजी गौड़से भी हमें इस सम्बन्धमें काफी सहायता मिली थी तथा हमारे सम्मान्य मित्र श्री-भगवानदासजी हालनाके विचारोंसे भी हमने बहुत लाभ उठाया है। इसके लिये हम उन सभीके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त जिन-जिन महानु-भावोंने इस दिशामें अबतक काम किया है तथा जिनके द्वारा सम्पादित संस्करणोंका पाठ-निर्णय करते समय हमलोगोंने उपयोग किया है, अथवा जिन्होंने पाठके सम्बन्धमें बीच-बीचमें हमें परामर्श भेजे हैं अथवा अन्य रूपमें सहायता की है, उन सबके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं। सबका पृथक्-पृथक् नामोल्लेख करनेमें, सम्भव है कुछ नाम भूलसे छूट जायँ, इसलिये उस अपराधसे बचनेके लिये सामूहिकरूपसे ही हम उन सभी पूज्य महानुभावों एवं मित्रोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वास्तवमें हमारे इस बाल-प्रयासमें जो कुछ अच्छाई है, वह उन्हींकी कृपा एवं आशीर्वादका फल है तथा दोष जितने भी हैं, वे सब हमारे अपने हैं। सबसे अधिक कृपा तो हमलोगोंपर भगवान् श्रीसीतारामजीकी है, जिन्होंने सर्वथा अयोग्य होते हुए भी हमें इस गुरुतर कार्यमें नियुक्त किया और इस प्रकार लगातार कई महीनोंतक अपने नाम एवं गुणोंके पठन एवं मननका स्वर्ण-संयोग प्रदान किया। भगवान्के नाम, गुण तथा लीलाओंके चिन्तन और कीर्तन-में समय लगना ही जीवनका सबसे बड़ा उपयोग है तथा किसी भी निमित्तसे इस कार्यमें प्रवृत्ति भगवान्की अहैतुकी कृपासे ही होती है।

श्रीरामचरितमानसका व्याकरण

मानसको भलीभाँति समझनेके लिये मानसके व्याकरणको जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। मानस जिस भाषामें लिखा गया था, उसका उस समय एक निश्चित रूप था—जो मानसका तथा गोस्वामीजीके रचे हुए अन्य ग्रन्थोंका विचारपूर्वक परिशीलन करनेसे अपने-आप समझमें आने लगता है। मानसकी भाषाको हम 'व्रजभाषामिश्रित अवधी' कह सकते हैं, यद्यपि उसमें बीच-बीचमें अन्य प्रान्तोंकी बोलीकी भी छटा देखनेको मिलती है। मालूम होता है गोसाईंजीने आवश्यकतानुसार बड़ी उदारताके साथ विभिन्न प्रान्तीय भाषाओंके शब्दोंका व्यवहार किया है। राजापुरके अयोध्याकाण्डकी भाषामें तथा अयोध्याके बालकाण्ड, दुलहीके सुन्दरकाण्ड तथा भागवतदासजी आदिद्वारा लिखे हुए शेष काण्डोंकी भाषामें कुछ-कुछ अन्तर मालूम देता है। राजापुरके अयोध्याकाण्डकी भाषा बहुत अंशोंमें शुद्ध अवधी कही जा सकती है। उसमें व्रजभाषाके प्रयोग बहुत कम देखनेको मिलते हैं। बालकाण्डकी प्रतिमें व्रजभाषाके प्रयोग कुछ अधिक मिलते हैं और शेष काण्डोंमें तो बीच-बीचमें कई जगह व्रजभाषाके प्रयोग घुसे हुए दिखायी देते हैं। इस अन्तरका कारण क्या है, यह निश्चित-रूपसे नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगोंका मत है कि गोस्वामीजीने अयोध्याकाण्ड सबसे पहले लिखा और वही श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी भाँति मानसका सर्वोत्कृष्ट भाग अथवा हृदय माना जाता है। बालकाण्ड उसके बाद लिखा गया और शेष काण्ड उसके भी पीछे लिखे गये। लोगोंका यह भी कहना है कि अयोध्याकाण्ड तथा बालकाण्ड तो अयोध्यामें लिखे गये थे और शेष काण्ड काशी आदि अन्य स्थानोंमें लिखे गये। भाषाके अन्तरका यह भी कारण हो सकता है। अथवा अयोध्याकाण्ड और बाल-काण्डकी सबसे प्राचीन प्रतियाँ जो इस समय उपलब्ध हैं, वे दोनों ही

गोस्वामीजीके समयकी हैं। अतः उनकी भाषाका अविकृत रूप हमें देखनेको मिलता है। काशिराजकी प्रति अथवा सं० १७२१ की प्रति, जिसकी प्रतिलिपि भागवतदासजीके द्वारा की गयी, दोनों ही गोस्वामीजीके देहावसानके कम-से-कम एक पीढ़ी पीछेकी हैं और उनमें और पहली दो प्रतियोंमें लगभग ५० वर्षका अन्तर है। भागवतदासजीकी प्रतियाँ तो और भी पीछेकी हैं और मूल प्रतिके करीब सौ वर्ष पीछे लिखी गयी थीं। ऐसी दशामें उनका मूलरूप बहुत कुछ विकृत हो गया हो, यह भी सम्भव है। जो कुछ भी हो, अयोध्याकाण्ड और बालकाण्डकी भाषामें तथा पीछेके काण्डोंकी भाषामें बहुत कुछ अन्तर देखनेमें आता है। कम-से-कम कुछ बातोंमें तो अन्तर स्पष्ट है। उदाहरणतः अयोध्याकाण्डमें तथा अंशतः बालकाण्डमें भी अकारान्त संज्ञा-शब्दोंको कई जगह उकारान्त करके लिखा गया है। हमारी पहले यह धारणा थी कि ये उकार निरर्थक हैं और किसी नियमसे नहीं रक्खे गये हैं; क्योंकि राजापुरकी प्रतिमें कहीं-कहीं अकारान्त शब्दोंको उकारान्त करके लिखा गया है और कहीं-कहीं उन्हें अकारान्त ही रहने दिया गया है, किंतु अधिक ध्यानपूर्वक देखनेसे इसमें एक खास नियमका अनुवर्तन पाया गया, जिसे अन्यत्र स्पष्ट किया गया है। अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें और-और नियमोंके साथ-साथ इस नियमका भी बहुत अंशोंमें पालन किया गया है और इन्हीं सब कारणोंसे उसे सबसे अधिक प्रामाणिक माननेके लिये विवश होना पड़ता है। बालकाण्डमें इस नियमका इतनी कड़ाईके साथ पालन नहीं हुआ है और अन्य काण्डोंमें तो इस नियमके सम्बन्धमें बहुत ढिलाई मालूम होती है। इसी प्रकार समय, उपाय, बिसमय, हृदय आदि शब्दोंके भी प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके एकवचनमें अयोध्या काण्डमें क्रमशः समउ, उपाउ बिसमउ, हृदउ आदि रूप मिलते हैं; किंतु बालकाण्ड तथा अन्य काण्डोंमें इस नियमका पालन क्रमशः कम हुआ है। भूतकालकी क्रियाओंके रूपमें भी दोनों काण्डसमूहोंमें कुछ-कुछ अन्तर मालूम होता है। उदाहरणतः करना, जाना, होना, खाना आदि क्रियाओंके भूतकालमें अयोध्याकाण्डमें जहाँ कीन्हेउ, गयउ, भयउ, खायउ आदि रूप

मिलते हैं, वहाँ अन्य काण्डोंमें इनके अतिरिक्त क्रमशः कियो या करयो, गयो, भयो, खायो आदि रूप भी मिलते हैं। कहना न होगा कि पहले प्रकारके रूप अवधी भाषाके हैं और दूसरे वर्गके रूप व्रजभाषाके।

अन्तमें इस सम्बन्धमें यह निवेदन करना है कि मानसका संक्षिप्त व्याकरण लिखनेका यह प्रयास सर्वथा अनधिकार चेष्टा होनेपर भी इस दृष्टिसे किया गया है कि जिसमें विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हो और जिन्होंने इस दिशामें आजीवन परिश्रम किया है, वे लोग मानसका एक सर्वाङ्गसुन्दर व्याकरण तैयार करके जनताके सामने रक्खें--जिससे मानसकी भाषा तथा भावोंको समझनेमें सदाके लिये सुविधा हो जाय और इस अनुपम ग्रन्थरत्नका अधिकाधिक प्रचार होनेमें सहायता मिले। इस प्रकारका प्रयास किसी विद्वान्‌ने किया भी हो तो उसका हमें पता नहीं है। हमारा तो यह प्रयास सर्वथा अपूर्ण तथा भूलभरा है। इसमें यदि कुछ सारकी बात मिले तो सारग्राही सज्जन उसे बालचेष्टा समझकर अपनावें, अन्यथा निःसार समझकर उसकी उपेक्षा करें। विज्ञ महानुभावोंसे हमारी यह भी प्रार्थना है कि जहाँ कहीं हमारी भूल समझमें आवे, वहाँ हमें निःसङ्कोच बतलानेकी कृपा करें--जिससे उसे सुधारनेकी चेष्टा की जाय।

वर्ण-विचार (Orthography)

संस्कृत-वर्णमालामें ५ मूल स्वर (अ, इ, उ, ऋ और ऌ), ४ उनके दीर्घरूप ('ऌ' का दीर्घरूप नहीं होता), ४ संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ--जो क्रमशः अ+इ, अ+ए, अ+उ और अ+ओ से बने हुए हैं), २ अयोगवाह वर्ण (अनुस्वार और विसर्ग, जो सदा किसी दूसरे वर्णके साथ जुड़े रहते हैं) तथा ३३ व्यञ्जन—इस प्रकार कुल ४८ वर्ण हैं। स्वरोंके केवल मूलरूप लेनेसे और दीर्घ स्वरोंको ह्रस्व स्वरोंका ही रूपान्तर मान लेनेसे ४४ और संयुक्त स्वरोंको भी उनके अन्तर्गत मान लेनेसे केवल ४० वर्ण रह जाते हैं। इनमेंसे रामचरितमानसमें मूल स्वरोंमेंसे

स्वतन्त्ररूपमें केवल ३ स्वरोंका और व्यञ्जनोंके साथ ४ स्वरोंका प्रयोग हुआ है। 'ऋ' स्वरका कृपा, कृष्ण, कृत, कृषी आदि शब्दोंमें व्यञ्जनोंके साथ ही प्रयोग हुआ है। ऋषि, ऋद्धि आदि शब्दोंमें, जहाँ उसका स्वतन्त्ररूपमें प्रयोग होता है, 'ऋ' के स्थानमें व्यञ्जन 'रि' का प्रयोग किया गया है—जैसे रिषि, रिधि आदि। दीर्घ 'ॠ' तथा 'ऌ' का प्रयोग बिल्कुल नहीं हुआ है। अयोगवाह वर्णोंमें विसर्गका प्रयोग बहुत कम हुआ है। कहीं-कहीं उसका काम 'ह' से लिया गया है—जैसे निहकाम (निःकाम अथवा निष्काम)। संयुक्त स्वर संस्कृतमें सब गुरु होते हैं, परंतु गोस्वामीजीने छन्दके सुभीतेके लिये 'ए' और 'ओ' को कई जगह लघुरूपमें प्रयोग किया है। जैसे 'पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते,' 'लोभी लोलुप कल कीरति चहई' इत्यादि स्थलोंमें 'ते' में 'ए' का और 'लोभी,' 'लोलुप' शब्दोंमें 'ओ' का लघुरूपमें प्रयोग हुआ है। यही कारण है कि इस बातको न समझनेके कारण कुछ लोगोंने इनके पाठको क्रमशः 'पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते' और 'लोभी लोलुप कीरति चहई'—इस प्रकार बदल दिया है। परंतु वे लोग यदि विचारपूर्वक देखेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि मानस तथा गोस्वामीजीके अन्य ग्रन्थोंमें भी 'ए' और 'ओ' का लघुरूपमें प्रचुरताके साथ प्रयोग किया गया है। विस्तारभय-से यहाँ अधिक उदाहरण नहीं दिये जाते। ह्रस्व–दीर्घके प्रयोगोंमें भी छन्दके अनुरोधसे गोस्वामीजीने बहुत स्वतन्त्रता बरती है। उन्होंने छन्दकी दृष्टिसे जहाँ चाहा है, वहीं ह्रस्वको दीर्घ तथा दीर्घको ह्रस्व कर दिया है। उदाहरणके लिये उन्होंने 'आशंका' को 'असंका', 'आशीर्वाद' को 'आसिर-बाद,' 'मुनीश' को 'मुनीसा', 'कृषि' को 'कृषी' और 'राहु' को 'राहू' बना दिया है।

'ऐ' और 'औ' के स्थानमें कहीं-कहीं उच्चारणसाम्यसे क्रमशः 'अइ' अथवा 'अय' और 'अउ' अथवा 'अव' का प्रयोग किया गया है—जैसे 'मैत्री' के स्थानमें 'मइत्री' अथवा 'मयत्री', 'बैर' के स्थानमें 'बयर', 'वैश्य' के स्थानमें 'बयस', 'सैल' के स्थानमें 'सयल', 'छैल' के स्थानमें

'छयल,' 'सैन' के स्थानमें 'सयन,' 'अपनपौ' के स्थानमें 'अपनपउ', 'चुनौती' के स्थानमें 'चुनवती' और 'अचंभौ' के स्थानमें 'अचंभव' शब्दोंका प्रयोग हुआ है।* इसी प्रकार इसके विपरीत 'नयन' और 'बयन' (वचन) के स्थानमें 'नैन' और 'बैन,' 'सोचइ' के स्थानमें 'सोचै,' 'पइठि'के स्थानमें 'पैठि' और 'बइठि'के स्थानमें 'बैठि' तथा 'गवन' के स्थानमें 'गौन' और 'बसउ' के स्थानमें 'बसौ' का प्रयोग मिलता है।

व्यञ्जन-वर्णोंमें गोस्वामीजीने ङ, ञ, ण और अंशतः य, व और श का एक प्रकारसे बहिष्कार ही कर दिया है, जो प्राकृतके नियमोंके अनुकूल ही है। 'य' और 'व' के स्थानमें शब्दोंके आदिमें तथा कहीं-कहीं अन्तमें भी क्रमशः 'ज'और 'ब'का प्रयोग किया गया है—जैसे 'यौवन'को 'जौबन', 'वनिता' को 'बनिता,' 'रवि' को 'रबि'और 'ब्रह्मचर्य' को 'ब्रह्मचर्ज' अथवा 'ब्रह्मचरज' लिखा गया है। मूल शब्दके पूर्वमें यदि किसी उपसर्गका प्रयोग हुआ हो अथवा समासके अन्तर्गत कोई दूसरा पद उसके पहले आ गया हो तब भी 'य' के स्थानमें 'ज' और 'व'के स्थानमें 'ब' का ही प्रयोग हुआ है—जैसे 'संयोग' के स्थानमें 'संजोग,' 'संवाद' के स्थानमें 'संबाद,' 'रघुवीर'के स्थानमें 'रघुबीर' और 'हर्षयुत' के स्थानमें 'हरषजुत' शब्दोंका प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं इस नियमका अपवाद भी देखनेको मिलता है—जैसे 'वियोग'के स्थानमें 'विजोग,' 'भावी' के स्थानमें 'भाबी,' 'अवश्य' के स्थानमें 'अबसि,' 'मायावी' के स्थानमें 'मायाबी,' 'फुलवारी' के स्थानमें 'फुलबारी,' 'परिवार' के स्थानमें 'परिबार', 'सरोवर'के स्थानमें 'सरोबर' तथा 'विनय'के स्थानमें 'बिनज'का प्रयोग नहीं मिलता; बल्कि 'बियोग,' 'भावी,' 'अवास', 'मायावी', 'फुलवारी,' 'परिवार,' 'सरोवर' और 'बिनय' पाठ ही मिलते हैं। अन्तिम 'य'के सम्बन्धमें तो यह नियम मालूम होता है कि उसके साथ रेफका संयोग होनेपर ही उसके स्थानमें 'ज' का योग हुआ है, अन्य स्थलोंमें नहीं। कहीं-

* पूरबमें अब भी 'लौटने' को 'लवटना' और 'लौंडे' (लड़के) को 'लवंडा' कहते हैं।

कहीं शब्दोंके बीचमें भी 'य' और 'व' के स्थानमें क्रमशः 'ज' और 'ब' का प्रयोग किया गया है--जैसे 'तिर्यग्' के स्थानमें 'त्रिजग,' 'अवरेव' के स्थानमें 'अब्रेब', 'पर्यन्त' के स्थानमें 'प्रजंत', 'ययाति' के स्थानमें 'जजाति,' 'विह्वल' के स्थानमें 'बिह्बल' और 'युवती' के स्थानमें 'जुबती' शब्दोंका प्रयोग हुआ है।

'श' के स्थानमें सर्वत्र 'स' का प्रयोग हुआ है; केवल जहाँ उसके पीछे 'रेफ' का संयोग हुआ है वहीं 'श' का 'श' ही रक्खा गया है--जैसे श्रम, बिश्राम, आश्रित, श्री, श्रुति, श्रैनी आदि शब्दोंमें नियमपूर्वक 'श' का ही प्रयोग हुआ है। राजापुरकी अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें इस नियमका प्रायः पूर्णरूपसे पालन हुआ है। अयोध्याके बालकाण्ड तथा भागवतदासजीकी प्रतिमें इसका पूर्णरूपसे पालन नहीं हुआ है। 'ड' और 'ड़' के स्थानमें प्राचीन प्रतियोंमें केवल 'ड' का ही प्रयोग मिलता है। बात यह है कि संस्कृत वर्णमालामें 'ड़' कोई स्वतन्त्र व्यञ्जन नहीं है, उच्चारणमें ही थोड़ा-सा अन्तर है। नियम यह है कि 'ड' जब शब्दके आदिमें आता है, उस समय उसका उच्चारण 'ड' होता है। बीचमें अथवा अन्तमें उसका उच्चारण 'ड़' के समान होता है। हमने पाठकोंके सुभीतेके लिये दोनों आकृतियोंका प्रयोग किया है।

संयुक्त वर्णोंका भी अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें प्रायः बहिष्कार ही किया गया है, उन्हें प्रायः तोड़कर ही लिखा गया है--जैसे 'प्रपंच' को 'परपंच,' 'प्रधान' को 'परधान,' 'मुखाग्र' को 'मुखागर,' 'स्नेह' को 'सनेह,' 'धर्म' को 'धरम', 'गुप्त' को 'गुपुत,' 'तृप्त' को 'तृपित,' 'मुक्ता' को 'मुकता,' 'सत्संगति' को 'सतसंगति,' 'कर्ता' को 'करता,' 'शत्रुघ्न,' को 'सत्रुघन,' 'दर्शन' को 'दरसन,' 'मग्न' को 'मगन', 'वर्ण' को 'बरन', 'अर्घ्य' को 'अरघ,' 'वर्ष' को 'बरष', 'कार्य' को 'कारज,' 'म्लान' को 'मलान,' 'आश्चर्य' को 'आचरज,' 'मूर्छा' को 'मुरुछा,' 'पार्थिव' को 'पारथिव,' 'पूर्व' को 'पूरुब' अथवा 'पूरब,' 'अर्थ' को 'अरथ' और 'अर्द्ध' को 'अरध,' 'युक्ति' को 'जुगुति,' 'व्यर्थ' को 'ब्यरथ,' 'यथार्थ' को 'जथारथ,' 'जन्म' को 'जनम' और 'पत्नी' को

'पतिनी' लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उक्त प्रतिमें 'क्ष' के स्थानमें नियमपूर्वक 'क्ख,' 'च्छ', 'ष' अथवा 'छ'का और 'ज्ञ'के स्थानमें 'ग्य'का प्रयोग किया गया है—जैसे 'लक्षण' के स्थानमें 'लक्खन' अथवा 'लच्छन,'* 'क्षीर' के स्थानमें 'षीर' अथवा 'छीर' तथा 'ज्ञान,' 'यज्ञ' आदिके स्थानमें 'ग्यान,' 'जग्य' आदिका प्रयोग हुआ है। मानसके कुछ संस्करणोंमें तद्भव शब्दोंका प्रायः, जहाँ छन्दमें कुछ अड़चन नहीं आती, तत्सम रूप दे दिया गया है और इसीलिये उनमें 'ण,' 'क्ष,' 'ज्ञ,' 'श', 'य,' 'व' इन वर्णोंका प्रचुरताके साथ प्रयोग किया गया है। उदाहरणतः उनमें 'लच्छन'को 'लक्षण,' 'ग्यान' को 'ज्ञान,' 'सिव' को 'शिव,' 'जजाति'को 'ययाति' और 'बन' को 'वन' रूप दिया गया है। उन संस्करणोंके सम्पादकोंका कहना यह है कि गोस्वामीजी संस्कृतसे अनभिज्ञ नहीं थे, अतएव उन्होंने संस्कृतके शुद्ध रूपोंको जान-बूझकर अशुद्ध लिखा हो—यह बात माननेमें नहीं आ सकती। इससे तो अशुद्धिका प्रचार होता है और पाठकोंमें भ्रम फैलनेकी सम्भावना रहती है। उदाहरणतः 'शंकर'को 'संकर' लिखनेसे पढ़नेवालोंके मनमें यह शङ्का हो सकती है कि वह भगवान् शिवका वाचक है अथवा 'वर्णसंकर'का। इससे तो अनुमान यही होता है कि गोस्वामीजीने इन शब्दोंका शुद्ध रूपमें ही प्रयोग किया था; लेखक प्रायः अधिक पढ़े-लिखे नहीं होते, अतः उन्हीं-ने शब्दोंको तोड़-मरोड़कर लिख दिया होगा। हम उन विद्वान् सम्पादकोंकी सेवामें इतना ही निवेदन कर देना चाहते हैं कि गोस्वामीजी संस्कृतके पण्डित थे तथा उन्हें संस्कृतके शब्दोंका शुद्ध रूप ज्ञात था, इस विषयमें हमें भी रंचमात्र संदेह नहीं है, किंतु हमें यह देखना है कि जिस ग्रन्थका हम सम्पादन कर रहे हैं, वह किस भाषामें लिखा गया है—संस्कृतमें अथवा उस समयकी बोल-चालकी प्राकृत (गँवारू) भाषामें। संस्कृतका विद्वान् यदि

---

* 'च्छ' के स्थानमें प्राचीन प्रतियोंमें 'छ' पाठ ही मिलता है। परंतु इससे यह अनुमान होता है कि उस समय 'च्छ' के स्थानमें 'छ' लिखनेकी ही पद्धति थी, अन्यथा उसको केवल 'छ' पढ़नेसे तो छन्दमें गड़बड़ होगी।

बोल-चालकी भाषामें रचना करेगा तो उसे बोल-चालमें शब्दोंका ही प्रयोग करना पड़ेगा, उसे अपने संस्कृत-ज्ञानको उतने समयके लिये और उतने अंशमें ताकमें रख देना पड़ेगा, संस्कृतके शब्द यदि बोल-चालकी भाषामें तोड़-मरोड़कर बोले जाते हैं, तो उस भाषामें रचना करनेवाला विद्वान् उन शब्दोंको तोड़-मरोड़कर ही व्यवहारमें लावेगा और उसीमें उसकी चतुराई मानी जायगी। कोई विद्वान् बात तो करे गँवारोंसे और प्रयोगमें लावे शुद्ध संस्कृतके शब्दोंको, तो उसकी बातको कौन समझेगा और सुनेगा ? इसी प्रकार हमें यह देखना है कि गोस्वामीजीने मानसकी रचना किन लोगोंके लिये की, विद्वानोंके लिये अथवा सर्वसाधारणके लिये ? उनके मानसका प्रचार इस समय भी किन लोगोंमें अधिक है, इस बातको जान लेनेसे ही हमारे उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर मिल जाता है। आज भी उनके मानसका संस्कृत पढ़े-लिखे विद्वानोंमें इतना आदर नहीं है, जितना साधारण अक्षरज्ञान रखनेवाले श्रद्धालु ग्रामीण नर-नारियोंमें है। कारण यही है कि गोस्वामीजीने यह काव्य संस्कृतके विद्वानोंके लिये नहीं, अपितु साधारण जनताके लिये, उन्हींकी भाषामें लिखा। उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही एक बार नहीं, कई बार कई प्रकारसे इस बातको सूचित किया है। मङ्गलाचरणके बाद ही संस्कृतके पद्यमें वे कहते हैं--'भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति'। आगे चलकर वे इस बातको और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं--

भाषाबद्ध करबि मैं सोई ॥

भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसें नहिं खोरी ॥

उनकी इस उक्तिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह काव्य विद्वानोंके लिये नहीं था। उन्हें तो उलटा यह भय था कि वे लोग इसको देखकर हँसेंगे। आजकल भी संस्कृतके विद्वान् प्रायः 'भाषा'को हेय दृष्टिसे ही देखते हैं। आगे भी गोस्वामीजीने 'भाषा भनिति', 'ग्राम्य गिरा' आदि शब्दोंका अपनी भाषाके सम्बन्धमें प्रयोग किया है--यहाँतक कि अन्तमें भी वे इस बातको नहीं भूलते और 'भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासः' इत्यादि कह

डालते हैं। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजीने मानसकी रचना किस भाषामें की। ऐसी दशामें उनके लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे अपनी रचनामें संस्कृत भाषाके नियमोंका ही पालन करते और केवल तत्सम शब्दोंका ही प्रयोग करते। हाँ, बीच-बीचमें उन्होंने तत्सम शब्दोंका भी प्रयोग किया है, और जिस प्रकार हमें तद्भव शब्दोंको तत्सम रूप देनेका अधिकार नहीं है, उसी प्रकार हमें तत्सम शब्दोंको भी तद्भव बनाकर तत्सम शब्दोंका सर्वथा बहिष्कार करनेका अधिकार भी नहीं है। प्राचीन कालके संस्कृतके विद्वानोंने भी प्राकृतमें रचनाएँ की हैं और उनमें प्राकृतके ही नियमोंका पालन किया गया है, संस्कृतके नियमोंका नहीं। संस्कृतके नाटकोंमें तो नियमपूर्वक स्त्रियों और नौकर-चाकरोंका संवाद प्राकृतमें ही होता रहा है, किंतु उनके रचयिताओंको कोई इसके लिये दोषी नहीं ठहराता। ऐसी दशामें गोस्वामीजीको ही हम संस्कृतके नियमोंमें कसनेकी चेष्टा करें तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा ही होगी। फिर मानसके ही अन्य कई स्थलोंमें तो संस्कृतके शब्दोंको इस प्रकार तोड़-मरोड़कर रक्खा गया है कि उनके स्थानमें हम तत्सम शब्दोंको किसी प्रकार रख ही नहीं सकते, रखनेसे छन्द बिगड़ जायगा अथवा वर्णसौष्ठव मारा जायगा। फिर जिस प्रकार किसी ग्रामीण स्त्रीको हम नागरिकोचित आभूषणोंसे सजाना चाहें तो वह उल्टी भद्दी जँचेगी, इसी प्रकार जो लालित्य, कोमलता और सरसता प्राकृत कवितामें तद्भव शब्दोंके प्रयोगसे आती है, वह शुद्ध तत्सम शब्दोंसे उलटी मारी जाती है —यह बात सहृदय सज्जनोंको अविदित नहीं है। इन सब कारणोंसे हमने तद्भव शब्दोंको उपलब्ध प्राचीन प्रतियोंके अनुसार उसी रूपमें रहने दिया है। केवल उन छन्दोंमें, जिनमें अधिकांश (१०मेंसे ९) संस्कृत शब्दोंका प्रयोग हुआ है, हमने संस्कृतके ही नियमोंका अनुसरण किया है; परंतु ऐसे छन्द मानसमें बहुत ही कम आये हैं।

अब केवल 'ष' और 'ख' के सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर हम वर्णोंके सम्बन्धमें अपने वक्तव्यको समाप्त करेंगे और उसके बाद शब्दोंके रूपान्तर-

के विषयमें कुछ विचार करेंगे। हिंदीकी प्राचीन लिपिमें और कम-से-कम गोस्वामीजीके समयमें 'ष' और 'ख' दोनोंका रूप एक ही था और दोनोंके स्थानमें 'ष' का ही व्यवहार होता था। इसका कारण यह था कि उस समय इन दोनों वर्णोंका उच्चारण 'ख' के सदृश ही होता था। काशीके आसपासके संस्कृतके विद्वान् अब भी 'ष'का 'ख'की तरह ही उच्चारण करते हैं, बल्कि शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंमें भी 'ष'को 'ख'की तरह उच्चारण करनेका नियम है। यही कारण है कि गोस्वामीजीने खकारान्त शब्दोंका षकारान्त शब्दोंके साथ तुक मिलाया है। जैसे—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

ऐसी दशामें मानसके सम्पादकके सामने यह प्रश्न आता है कि प्राचीन प्रथाके अनुसार मुद्रित प्रतिमें भी 'ष' और 'ख' दोनोंके स्थानमें 'ष' का ही प्रयोग किया जाय अथवा यथास्थान दोनों वर्णोंका प्रयोग किया जाय। दोनों वर्णोंका अलग-अलग प्रयोग करनेसे जहाँ षकारान्त शब्दोंका खकारान्त शब्दोंके साथ तुक मिलाया गया है, वहाँ दिक्कत आवेगी; क्योंकि छन्दके नियमोंके अनुसार 'ष' का 'ख'के साथ अनुप्रास नहीं मिलता। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि ये दोनों वर्ण भिन्न हैं तथापि उनका उच्चारण एक होनेसे उनका अनुप्रास बन सकता है, तो यह बात भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'ष' का केवल संयुक्तप्रान्तके कुछ भागमें तथा बिहारमें ही 'ख' की भाँति उच्चारण होता है। अन्य प्रान्तोंमें, खासकर महाराष्ट्र तथा गुर्जर प्रान्तोंमें, उसका उच्चारण प्रायः 'ष' ही होता है और गोस्वामीजीके रामचरितमानसका प्रचार उन सभी प्रान्तोंमें है। इस दिक्कतसे बचनेके लिये कुछ संस्करणोंमें जहाँ ऐसे प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ दोनों ही चरणोंमें 'ख' का ही प्रयोग किया है; परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'निमेष' की जगह 'निमेख' शब्दका प्रयोग करना प्राकृतके नियमोंके विपरीत होगा। हमने इन सब विकल्पोंमेंसे 'ष' के स्थानपर 'ष' और 'ख' के स्थानपर 'ख'का ही प्रयोग करना उचित समझा। इससे

जो लोग 'ष'का उच्चारण 'ख'की भाँति नहीं करते उन्हें अनुप्रासके सम्बन्धमें कुछ दिक्कत हो सकती है। अधिक-से-अधिक यह होगा कि वे इसे कविका दोष मानकर संतोष कर लेंगे, किंतु और बहुत-सी अड़चनें इससे दूर हो जायँगी। 'ष' और 'ख' दोनोंके स्थानमें 'ष' का प्रयोग करनेसे अधिक दिक्कतकी सम्भावना है और षकारान्त शब्दोंको खकारान्त बना देना भाषाकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा। अतः हमने आधुनिक परिपाटी-के अनुसार दोनों ही वर्णोंका प्रयोग करना उचित समझा। होना भी ऐसा ही चाहिये; क्योंकि जिस समय पुस्तक मुद्रित हो रही है, लिपिके नियम उसी समयके बरते जाने चाहिये, न कि उस समयके जिस समय पुस्तक मूलतः लिखी गयी थी।

शब्दोंके रूपान्तर

अब संस्कृतके शब्दोंको गोस्वामीजीने किस प्रकार तोड़-मरोड़कर काममें लिया है और किन-किन नियमोंके आधारपर उन्होंने ऐसा किया है, इसका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जायगा। यह विषय प्राकृत व्याकरण तथा भाषाविज्ञानका है और बहुत जटिल है। हमारा न तो इस दिशामें कुछ अध्ययन है और न इस विषयका विस्तारसे यहाँ वर्णन भी सम्भव है। अतः यहाँ केवल कुछ खास-खास शब्दसमूहोंकी रचना एवं विकासके सम्बन्धमें कुछ नियम बतलाये जाते हैं। सम्भव है, इससे उन-उन तथा उसी प्रकारके अन्य शब्दोंका अर्थ समझनेमें पाठकोंको सुभीता हो और मानसके पाठके सम्बन्धमें भी यथाशक्य भ्रमका निवारण हो। इसी विचारसे इस सम्बन्धमें कुछ अनधिकार चेष्टा की जाती है। इस कार्यमें त्रुटियाँ भी अधिक होंगी। आशा है, विज्ञ पाठक उन्हें सुधार लेंगे और हमें भी सूचित करेंगे—ताकि वे भूलें आगे सुधारी जा सकें! कहना न होगा कि ये सब परिवर्तन भाषा-विज्ञानके सिद्धान्तोंके अनुसार उच्चारणकी सुविधाके लिये होते हैं। नियम इस प्रकार हैं—

(१) कुछ अकारादि क्रियाओंके आदिके 'अ' का विकल्पसे लोप हो जाता है। जैसे 'अह' (सं० अस्)=होना क्रियाके 'अहइ' (है), 'अहहिं' (हैं), 'अहहु' (हो) आदि रूप होते हैं। विकल्पसे 'अ' का लोप करके इनके क्रमशः 'हइ' अथवा 'है', 'हहिं' अथवा 'हैं' और 'हहु' अथवा 'हौ' रूप बन जाते हैं।

(२) कुछ शब्दोंमें आदि अथवा मध्यके किसी व्यञ्जनके साथ जुड़े हुए 'अ'के स्थानमें 'उ' का आदेश हो जाता है। जैसे संस्कृतके 'शिंशपा' 'अञ्जलि' और 'सफल' शब्दोंके स्थानमें गोस्वामीजीने क्रमशः 'सिंसुपा' 'अंजुलि' (इसीसे आगे चलकर 'अँजुरी' शब्द बन गया), 'सुफल' शब्दोंका प्रयोग किया है। अकारान्त शब्दोंके अन्तिम अकारको 'उ' बनानेका नियम अन्यत्र बताया जायगा।

(३) कुछ शब्दोंके पूर्व उच्चारणके सुभीतेके लिये 'अ' जोड़ दिया गया है—जैसे 'स्तुति', 'स्नान' (जिससे प्राकृतमें 'ह्नान' अथवा 'न्हाना' क्रिया बनती है), 'स्थान' तथा 'मा' धातु (जिसका अर्थ है अमाना, अँटना) के स्थानमें गोस्वामीजीने 'स्तुति', 'अस्नान' (प्राकृत 'अन्हाना') तथा 'अमाना' क्रियाका प्रयोग किया है। 'स्तुति', 'स्नान' आदि शब्दोंको तो अब भी कई प्रान्तोंमें पढ़े-लिखे लोग भी उच्चारणके दोषसे 'अस्तुति', 'अस्नान' आदि कहते हैं।

(४) अकारान्त स्त्रीलिङ्ग भाववाचक संज्ञा-शब्दोंके पीछे-पीछे कहीं-कहीं 'ई' भी जोड़ देते हैं (जैसे आजकल भी कोई-कोई 'ऐक्य' आदि शब्दोंके पीछे, जो स्वयं भाववाचक हैं, पुनः 'ता', 'त्व' आदि प्रत्यय जोड़ देते हैं, जो भाववाचक शब्द बनानेके लिये संज्ञा एवं विशेषण शब्दोंके पीछे जोड़े जाते हैं)। उदाहरणतः 'प्रभुता' से 'प्रभुताई', 'सजा' (दण्ड) से 'सजाई', 'रजा' (आज्ञा) से 'रजाई' तथा 'मनोहरता' से 'मनोहरताई' शब्द बनाये गये हैं। इनके अतिरिक्त 'कटक' आदि अन्य प्रकारकी संज्ञाओं तथा 'सदा' आदि क्रियाविशेषणोंके पीछे भी गोस्वामीजीने 'ई' प्रत्यय

जोड़ा है, जो केवल पादपूरणके लिये ही मालूम होता है; क्योंकि उससे अर्थमें कोई विशेषता नहीं आती ।

(५) संयुक्त वर्णोंके अव्यवहित पूर्वमें आनेवाले दीर्घस्वरोंको गोस्वामीजीने प्रायः ह्रस्व कर दिया है—जैसे 'आशीर्वाद', 'आज्ञा', 'मुनींद्र', 'दीक्षा', 'परीक्षा', 'दूर्वा' और 'ब्रह्माण्ड' शब्दोंके स्थानमें छन्द-की दृष्टिसे आवश्यक न होनेपर भी गोस्वामीजीने क्रमशः 'आसिरबाद', 'अग्या', 'मुनिंदा', 'दिच्छा', 'परिच्छा', 'दुर्बा' और 'ब्रह्मंड' शब्दोंका प्रयोग किया है । किसी-किसी प्रतिमें तो 'ईश्वर' और 'अभीष्ट' आदि शब्दोंको भी 'इस्वर' और 'अभिष्ट' लिखा गया है । पूरबमें अब भी पढ़े-लिखे लोगतक इन शब्दोंको इसी प्रकार बोलते हैं । छन्दकी दृष्टिसे तो उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक ह्रस्वको दीर्घ और दीर्घको ह्रस्व कर दिया है—जैसे 'आशंका' को 'असंका', 'आशिष' को 'असीस', 'मङ्गलाचार' को 'मंगलचार'; 'कहहिं' और 'करहिं' को 'कहाहीं' और 'कराहीं', 'कृषि' को 'कृषी' 'सीया' (सीता) को 'सिया', 'गुरु' को 'गुरू' और 'बधून्ह' को 'बधुन्ह' लिखा गया है ।

(६) संस्कृतके 'णिनि' (इन्) प्रत्ययान्त शब्दोंके स्त्रीलिङ्गके रूपोंमें 'इन्' के 'इ' के स्थानमें 'अ' कर दिया गया है—जैसे 'अनपायिनी' 'वरदायिनी', 'मोहिनी', 'वाहिनी' आदि शब्दोंके स्थानमें गोस्वामीजीने प्रायः 'अनपायनी', 'वरदायनी', 'मोहनी' और 'वाहनी' शब्दोंका प्रयोग किया है । इसी प्रकार जिन 'तृन्' प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंमें 'तृन्' से पहले 'इ' (इट्) लगाया जाता है (जैसे 'जनयितृ'), उनके स्त्रीलिङ्गके रूपोंमें इस 'इ' के स्थानमें भी 'अ' का ही प्रयोग किया गया है—जैसे 'जनयत्री' (उत्पन्न करनेवाली) 'तव्य' प्रत्ययके पहले भी इस 'इ' को 'अ' कर दिया गया है—जैसे 'भवितव्यता' के स्थानमें प्रायः 'भवतब्यता' का प्रयोग हुआ है ।

(७) 'बाहिर' और 'तिरहुति' शब्दोंको (जो क्रमशः संस्कृतके 'बहिः' और 'तीरभुक्ति' शब्दोंके बिगड़े हुए रूप हैं) प्राचीन प्रतियोंमें प्रायः सर्वत्र 'बाहेर' और 'तेरहुति' लिखा गया है। इससे हमने भी इन शब्दोंको इसी रूपमें रहने दिया है, यद्यपि व्याकरणकी दृष्टिसे ऐसा करनेमें कोई हेतु नहीं मालूम देता। 'बेचारी', 'बेहालू', 'बेबाकी', 'खेलाई' 'देखराइ', 'पेटारी' आदि शब्दोंमें तो एकारका रखना आवश्यक है; क्योंकि पहले तीन शब्द तो उर्दूसे लिये गये हैं और वहाँ उनका यही रूप है; 'खेलाई' शब्द प्रेरणार्थक होनेके कारण उनमें 'इ' के स्थानमें 'ए' का प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे आवश्यक है और 'पेटारी' शब्द संस्कृतके 'पेटिका' शब्दका विकृत रूप होनेके कारण उसमें भी 'ए' का रहना आवश्यक है—यद्यपि कई आधुनिक प्रतियोंमें इन शब्दोंमें 'ए' का उच्चारण ह्रस्व होनेके कारण उसके स्थानमें 'इ' बरता गया है, जो हमारी समझसे ठीक नहीं है। 'बोलाई', 'लेवाई' आदिमें भी यही बात समझनी चाहिये।

(८) 'संनिपात' शब्दमें 'इ' के स्थानमें 'य' कर दिया गया है और 'संन्यासी' शब्दकी भाँति इसमें भी 'अनुस्वार'का लोप कर दिया गया है।

(९) उकारादि शब्दोंमें आदिके 'उ' के स्थानमें कहीं-कहीं 'हु' कर दिया गया है—जैसे संस्कृतके 'उल्लास' शब्दके स्थानमें 'हुलास' शब्दका प्रयोग किया गया है।

(१०) शब्दोंके आदि, अन्त तथा मध्यमें आनेवाले उकारान्त व्यञ्जनोंको कहीं-कहीं अकारान्त कर दिया गया है—जैसे 'गुरु', 'दयालु', 'कृपालु', 'उडुगण', 'भीरु', 'कुधातु', 'तनु', 'कुपुत्र', 'अनुकूल', 'अनुरूप' आदि शब्दोंके स्थानमें गोस्वामीजीने क्रमशः प्रायः 'गुर', दयाल', 'कृपाल', 'उडगन', 'भीर', 'कुधात', 'तन' 'कपूत', 'अनकूल' और 'अनरूप' शब्दोंका प्रयोग किया है। इनमेंसे 'गुर' और 'कृपाल' आदि शब्दोंका तो कहीं-कहीं उर और काल आदि शब्दोंके साथ अन्त्यानुप्रास भी मिलाया गया है, जैसे—

'उदय करहु जनि रबि रघुकुल गुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥
और 'करालं महाकालकालं कृपालं' आदि।

कहीं-कहीं 'कृपाल' और 'दयाल' के अन्तिम अकारको दीर्घ भी कर दिया गया है, जैसे--'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी'। 'गुरु' शब्दका जहाँ 'भारी' अर्थमें विशेषणके रूपमें प्रयोग हुआ है, वहाँ उसे उकारान्त ही रक्खा गया है। कहीं-कहीं गुरु (आचार्य) के अर्थमें भी उसे उकारान्त ही रक्खा गया है। 'तनु' शब्दके उकारान्त और अकारान्त दोनों प्रकारके रूप मिलते हैं। 'भुशुंडि' के स्थानमें भी 'भुसुंडि', 'भसुंडि', और 'भसुंड' (अथवा भसुंडा) तीनों रूप मिलते हैं।

(११) 'अनसूया' के स्थानमें गोस्वामीजीने 'अनसुइया' शब्दका प्रयोग किया है।

(१२) कहीं-कहीं शब्दके आदिके 'उ' को वहाँसे हटाकर उसके आगेके व्यञ्जनके साथ जोड़ दिया गया है और कहीं-कहीं इसके विपरीत आदिके उकारान्त व्यञ्जनको अकारान्त बनाकर 'उ' को उसके पहले जोड़ दिया गया है। उदाहरणतः 'उल्का' शब्दके 'उ' को आदिमेंसे हटाकर 'ल' में जोड़ दिया गया और इस प्रकार उसका रूप 'लूक' हो गया। इसी प्रकार 'पुरोहित' के 'उ' को 'प' से अलग कर उसके पूर्वमें बैठा दिया गया, जिससे उसका रूप 'उपरोहित' हो गया—जो इसी रूपमें अब भी अवधमें प्रचलित है। कहीं-कहीं केवल आदिके 'उ' का लोप कर देते हैं, जैसे 'उपानह्' से 'पानही' अथवा 'पनहीं' हो गया और 'उपविश' से 'बइठना' हो गया।

(१३) किसी वर्णका उसी वर्णके साथ संयोग होनेपर उसके अव्यवहित पूर्वमें आनेवाले ह्रस्व स्वरको प्रायः दीर्घ कर दिया जाता है। उदाहरणतः 'उत्तर' (जवाब) का 'ऊतर'। 'मत्त' का 'माता' और 'मल्ल' का 'माल' हो जाता है।

(१४) शब्दोंके आदिके ऋकारान्त व्यञ्जनोंके 'ऋ' को 'ऊ' अथवा 'ऊँ' आदेश हो जाता है—जैसे 'वृद्ध' से 'बूढ़ा', 'पृच्छ' (पूछना) धातुका 'पूछ' अथवा 'पूँछ' और 'वृक्ष'के 'व' का लोप करके 'रूँख'हो गया। 'रूँख' शब्दका राजस्थानीमें आजकल भी व्यवहार होता है। कहीं-कहीं ऐसे स्थानोंमें 'ऋ' को 'इ' का आदेश हो जाता है—जैसे 'तृण', 'निकृष्ट', 'दृढ़ाई' (दृढ़ करके) 'प्रावृट्' (वर्षा ऋतु), 'दृष्ट', 'श्रृङ्गार', 'दृगञ्चल', 'पृष्ठ' आदि शब्दोंके स्थानमें गोस्वामीजीने क्रमशः प्रायः 'तिन', 'निकिष्ट', दिढ़ाई', 'प्राबिट', 'दीठा' (प्रा० दिट्ठ), 'सिंगार', 'दिगंचल' और पीठि (प्रा० पिट्ठ) शब्दोंका प्रयोग किया है।

(१५) संस्कृतके 'कर्ता' और 'भर्ता' शब्दोंके प्रथमा एकवचनके रूपोंके आगे क्रमशः सृष्टिकर्ता ईश्वर और पतिके अर्थमें विकल्पसे 'र' प्रत्यय जोड़ दिया जाता है—जैसे 'करतार', 'भरतार'।

(१६) 'ऋ' के स्थानमें कहीं-कहीं 'उ' आदेश हो जाता है—जैसे 'मातृ', 'पितृ' से 'मातु', 'पितु' और 'मृत' से 'मुए' बन गया। गुजरातीमें 'ऋ' को 'रु' तो अब भी बोलते हैं। सम्भव है इसी 'रु' का रेफ घिसकर केवल 'उ' ही रह गया।

(१७) 'वृद्ध', 'सृजा' (उत्पन्न किया) आदि शब्दोंमें 'ऋ' के स्थानमें 'इ' आदेश होकर उसके पीछे 'रि' जोड़ दिया जाता है, जिससे इन शब्दोंका रूप क्रमशः 'बिरिध' और 'सिरिजा' हो जाता है। 'वृद्ध' के 'द' का भी ऐसे स्थानोंमें लोप हो जाता है—जैसे 'रिधि', 'सिधि' आदि शब्दोंमें होता है, जो क्रमशः 'ऋद्धि' और 'सिद्धि' के बिगड़े हुए रूप हैं।

(१८) 'स', 'म' आदि वर्णोंके पूर्ववर्ती अनुस्वारके स्थानमें कहीं-कहीं 'न' आदेश हो जाता है—'वंशी' का 'बनसी' और 'संमान'का 'सनमान' हो जाता है। 'बनसी' प्रायः मछली पकड़नेके काँटेके लिये ही प्रयोगमें आता है। 'बिधंसि' (विध्वंस करके) के स्थानमें भी किसी-किसी प्रतिमें 'बिधन्सि' पाठ मिलता है।

(१९) कहीं-कहीं छन्दके अनुरोधसे ह्रस्व वर्णोंको दीर्घ बनानेके लिये अक्षरोंके ऊपर अनावश्यक अनुस्वार बैठा दिया जाता है, जैसे 'निदरि' (निरादर करके) के स्थानमें गोस्वामीजीने एकाध बार 'निंदरी' शब्दका व्यवहार किया है ।

(२०) संज्ञा तथा विशेषण-शब्दोंके पीछे कहीं-कहीं 'युक्त' अर्थमें आर अथवा आरी प्रत्यय लगा देते हैं—जैसे 'सुखारे' (सुखी—बहुवचन), 'दुखारे' (दुखी), 'सुखारी', 'दुखारी', 'मनिआर' (मणियुक्त), 'जुझार' (युद्धशील), 'पिआरे' (प्रिय+आरे=प्रियशील), 'सुखदारा' (सुखद+आर=सुख देनेवाले) इत्यादि । कहीं-कहीं विशेषणोंके पीछे स्वार्थमें (उसी अर्थमें, अर्थमें बिना कोई विशेषता लाये) 'एर' प्रत्यय भी लगाया जाता है—जैसे बड़ेरे (बड़े), घनेरे (बहुत-से), बहुतेरे (बहुत-से) इत्यादि ।

(२१) शब्दोंके मध्यवर्ती 'क' के स्थानमें कहीं-कहीं 'अ' आदेश हो जाता है—जैसे 'सूकर' से 'सूअर', 'निकट' से 'निअराना' (निकट जाना) क्रिया, 'सूपकार' से 'सुआर' (रसोइया) और 'द्यूतकार' से 'जुआरी' (जुआ खेलनेवाला) बन गया ।

(२२) पदान्तके तथा कहीं-कहीं बीचके 'क' को भी 'ग' आदेश हो जाता है—जैसे 'काक' से 'काग', 'वक' से 'बग', 'पर्यंक' अथवा 'पल्यंक' से 'पलँग', 'प्रकट' से 'प्रगट', 'विकसित' से 'बिगसित', 'युक्ति' से 'जुगुति', 'भक्ति' से 'भगति' हो गया ।

(२३) 'क' के आगे 'त' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं 'क' का लोप हो जाता है और उसका पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है—जैसे 'रक्त' (अनुरक्त) से 'राता' और 'रिक्त' से 'रीता' (खाली) बन गया । कहना न होगा कि प्राकृतके 'रत्त' और 'रित्त' शब्दोंके ही ये विकसित रूप हैं ।

(२४) 'क्ष' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश भी हो जाता है, जैसे 'दक्षिण' से 'दहिन' हो गया ।

(२५) पदान्तके 'क्ष' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ख' और कहीं 'छ' आदेश हो जाता है और पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है—जैसे 'लक्ष' का 'लाख', 'अक्षि' का 'आँखि', 'मक्षी' का 'माखी' और 'ऋक्ष' का 'रीछ' हो गया।

(२६) 'ख' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है, जैसे 'मुख' से 'मुह' हो गया।

(२७) पदान्तके 'ग' और 'ज' का लोप कर कहीं-कहीं उसके साथका स्वरमात्र रहने दिया जाता है—जैसे 'संजोगू' का 'सँजोऊ', 'समाजु' का 'समाउ', 'आम्रराजि' का 'अँवराई' और 'राजु' का 'राउ' हो गया।

(२८) शब्दोंके मध्यवर्ती 'ग' के स्थानमें कहीं-कहीं 'य' आदेश हो जाता है, जैसे 'मृगाङ्क' के स्थानमें 'मयंक' हो गया।

(२९) 'ग' के आगे 'ध' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं 'ग' का लोप हो जाता है और कहीं-कहीं दोनोंके स्थानमें 'ढ़' एकरूप आदेश हो जाता है। दोनों ही स्थलोंमें पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है—जैसे 'दुग्ध' का 'दूध' और 'दग्ध' का 'दाढ़ा' हो गया।

(३०) 'ग' के साथ 'न' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं 'न' का विकल्पसे लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे 'अग्नि'से 'आगि' हो गया। जहाँ लोप नहीं होता, वहाँ बीचमें 'इ'का आगम होकर 'अगिनि' रूप बन जाता है।

(३१) 'घ' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है, जैसे संस्कृतके 'श्लाघ्' धातुसे 'सराहना' क्रिया बन गयी। कहीं-कहीं इसके विपरीत 'ह' का 'घ' हो जाता है, जैसे 'सिंह' का 'सिंघ', 'सिंहासन' का 'सिंघासन', 'सिंहल'का 'सिंघल' और 'नहुष' का 'नघुष' हो गया। अब भी कई प्रान्तोंमें 'सिंह' को 'सिंघ' और 'सिंहासन' को 'सिंघासन' ही बोलते हैं।

(३२) शब्दोंके मध्यवर्ती 'च' के स्थानमें कहीं-कहीं 'य' आदेश
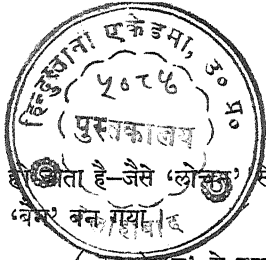
हो जाता है—जैसे 'लोचन' से 'लोयन' और 'वचन' से 'बयन' अथवा 'बैन' बन गया।

(३३) 'ज' के स्थानमें भी कहीं-कहीं 'य' आदेश हो जाता है—जैसे 'राज' का 'राय' (राजा); 'गज' का 'गय' और 'गजेन्द्र'का 'गयंद' हो गया।

(३४) पदान्तमें 'च' के पूर्व 'ञ' का और 'त'के पूर्व 'न'का संयोग होनेपर 'ञ' तथा 'न'का लोप करके पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ एवं सानुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'पञ्च' का 'पाँच' और 'दन्त' का 'दाँत' हो गया।

(३५) 'ज्ञ' के स्थानमें कभी 'ज' और कभी 'य' आदेश हो जाता है, जैसे 'ज्ञान' से 'जान' तथा 'सज्ञान' से 'सयान' और 'अज्ञान'से 'अयान' हो गया। यह 'य' सम्भवतः 'ग्य'का ही घिसा हुआ रूप है। पदान्तके 'ज्ञ' के स्थानमें कहीं-कहीं 'न' आदेश भी हो जाता है, जैसे 'राज्ञी'से 'रानी' हो गया। यह 'न' भी 'ग्न'का घिसा हुआ रूप मालूम होता है। गुजरातीमें 'ज्ञ'को आजकल भी 'ग्न' की ही भाँति उच्चारण करते हैं। 'ग्य' और 'ग्न' मेंसे 'ग' निकाल देनेसे 'य' और 'न' ही रह जाते हैं।

(३६) उर्दूके 'ज़' के स्थानमें कहीं-कहीं 'द' आदेश हो जाता है, जैसे 'कागज़' का 'कागद' हो गया।

(३७) पदान्तके 'ट' के स्थानमें कहीं-कहीं 'र' आदेश हो जाता है—जैसे 'कोटि'का 'कोरि' 'ललाट' का 'लिलार', 'पुष्पवाटी' का 'फुलवारी', 'कटु'का 'करु' और 'उत्पाट' से 'उपार' बन गया।

(३८) पदान्तके 'ठ' को कहीं-कहीं 'ढ' आदेश हो जाता है, जैसे 'पठ्' धातुसे 'पढ़ना' क्रिया बन गयी। 'ष'के साथ संयोग होनेपर 'ठ'के स्थानमें 'ट' हो जाता है, जैसे 'वसिष्ठ' 'वसिष्ट', 'विष्ठा'का 'बिष्टा', 'कुष्ठ'का 'कुष्ट', 'तिष्ठति'का 'तिष्टइ' और 'पापिष्ठ'का 'पापिष्ट' बन गया।

बोलनेमें अब भी लोग प्रायः 'ष्ठ' का उच्चारण 'ष्ट' की भाँति ही करते हैं। लिखनेमें भी 'घनिष्ठ' को प्रायः आजकल 'घनिष्ट' ही लिखते हैं।

(३९) 'ड़'के स्थानमें कहीं-कहीं 'र' आदेश हो जाता है, जैसे 'पीड़ा'से 'पीरा' और 'षोडश'से 'सोरह' हो गया। 'गरुड़'के स्थानमें भी गोस्वामीजीने कहीं-कहीं 'गरुर' शब्दका प्रयोग किया है। अब भी बिहार प्रान्तके कुछ जिलोंमें तथा पूर्व बंगालमें भी 'ड़' को 'र' ही बोलते हैं। गोस्वामीजीने अपनी भाषामें प्रायः सभी प्रान्तोंकी विशेषताओंको स्थान दिया है।

(४०) पदान्तके रेफयुक्त 'ण' के स्थानमें विकल्पसे 'ड़' आदेश हो जाता है, जैसे 'कर्णधार'का 'कड़हार' हो गया। गोरखपुरके आसपास 'ण'के स्थानमें अब भी पढ़े-लिखे लोगतक 'ड़' बोलते हैं। दूसरे पक्षमें 'र्ण' के स्थानमें 'न' होकर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'कर्ण' का 'कान' और 'पर्ण'का 'पान' हो गया। 'जीर्ण' शब्द 'जॄ' धातुसे बना हुआ होनेके कारण नियम १४ के अनुसार 'जी'का 'जू' बनकर 'जून' (पुराना) हो गया।

(४१) पदान्तके 'त्'का कहीं-कहीं लोप हो जाता है, जैसे 'कदाचित्' का 'कदाचि' और 'पञ्चाशत्' से 'पचास' हो गया।

(४२) पदान्तके 'त' के स्थानमें कहीं-कहीं 'र' आदेश हो जाता है, जैसे 'पत्' धातुसे 'परत' (पड़ते हैं) आदि क्रियापद और 'सप्तति' शब्दसे 'सत्तरि' बन गया। कहीं-कहीं 'त्' का लोप होकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है जैसे 'अमृत' का 'अमिअ', 'सुत' का 'सुअ', 'घातु'का 'घाउ' (घाव), 'सरस्वती'का 'सरसइ' और 'वातुल'का 'बाउर' हो गया। 'पीत' और 'हरित' शब्दके 'त्' का लोप करके शेष बचे हुए 'अ' के आगे 'र' जोड़ देते हैं, जिससे इनका रूप 'पिअर' (इसीसे आगे चलकर 'पीरा' अथवा 'पीला' बन जाता है) और 'हरिअर' हो जाता है। 'हरिअर'से ही आगे चलकर भाववाचक संज्ञा 'हरियाली' बन गयी।

(४३) 'त' के स्थानमें कहीं-कहीं 'द' और कहीं-कहीं 'य' आदेश भी हो जाता है, जैसे 'कातर'के स्थानमें 'कादर' और 'कायर', 'शत' के स्थानमें 'सय', 'मात'के स्थानमें 'माय' (इसीसे नियम ६६ के अनुसार फिर 'माइ' और 'माई' बन गया), 'शीतल' के स्थानमें 'सियर' और 'सीता' के स्थानमें 'सीया' का प्रयोग हुआ है ।

(४४) 'त्' के पीछे 'क' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं उसके स्थानमें 'क्' आदेश हो जाता है अथवा उसका लोप हो जाता है और उसका पूर्ववर्ती दीर्घस्वर ह्रस्व हो जाता है, जैसे 'चीत्कार'का 'चिक्कार' अथवा 'चिकार' बन गया । इसी प्रकार 'त्' के पीछे 'ख्' का संयोग होनेपर भी 'त्' का लोप हो जाता है, जैसे उत्+खा धातुसे 'उखारना' क्रिया बन गयी ।

(४५) पदान्तमें 'त्' के आगे 'य' अथवा 'र' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं 'य' और 'र' का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है—जैसे 'आहिवत्य' (सौभाग्य,सधवापन)से 'अहिवात', 'पुत्र' से 'पूत' और 'पत्री'से 'पाती' हो गया । कहीं-कहीं 'त्य' को 'च' आदेश होकर पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'मृत्यु'से 'मीचु' ('ऋ'को 'इ' नियम १४ के अनुसार हो जाता है) और 'सत्य' से 'साँच' हो गया । दक्षिणके कुछ प्रान्तोंमें अब भी 'दत्य' का उच्चारण 'सच्य' की भाँति करते हैं ।

(४६) पदान्तके 'थ' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है, जैसे 'नाथ' से 'नाह', 'कथ्' धातुसे 'कहना' क्रिया, 'गाथा' से 'गाहा', 'शपथ'से 'सौंह' और 'यूथ'से 'जूह' बन गया ।

(४७) शब्दोंके मध्यवर्ती अथवा पदान्तके 'द' का कहीं-कहीं लोप होकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है, जैसे 'हृदय'से 'हियउ' अथवा 'हिअ' (हिय), 'प्रसादु'से 'पसाउ' 'प्रस्वेद'से 'पसेउ' (राजस्थानीमें इसे 'परसेव' कहते हैं), 'आदेशु'से 'आएसु' (अथवा 'ए'को उच्चारणसाम्यसे 'य'में बदल देनेपर 'आयसु') 'भेदु'से 'भेउ' और 'पादु'से 'पाउ' (व्रजभाषा 'पाँव') शब्द बन गये ।

(४८) 'द' के साथ 'य' का संयोग होनेपर संयुक्त वर्णके स्थानमें 'ज' आदेश हो जाता है, जैसे 'पक्षवाद्य' से 'पखाउज', 'द्यूत'से 'जुआ' और 'अद्य'से 'आज' बन गया। कहीं-कहीं केवल 'द'के स्थानमें भी 'ज'का प्रयोग देखा जाता है, जैसे 'श्वापद'के स्थानमें 'साउज' शब्दका प्रयोग किया गया है।

(४९) किसी मूर्धन्य वर्णके सान्निध्यमें 'द' को मूर्धन्य 'ड' आदेश हो जाता है, जैसे 'दृष्टि' का 'डीठि' हो गया।

(५०) कहीं-कहीं 'द'के स्थानमें 'र' आदेश हो जाता है। 'ग्यारह', 'बारह', 'तेरह', 'पंद्रह', 'सत्तरह', 'अठारह' आदि संख्यावाचक शब्द इसी प्रकार क्रमशः 'एकादश', 'द्वादश', 'त्रयोदश', 'पञ्चदश', सप्तदश', 'अष्टादश' आदि शब्दोंसे बने हैं।

(५१) 'द'के पीछे 'ऋ', 'व' अथवा 'ध'का संयोग होनेपर 'द'का कहीं-कहीं लोप हो जाता है—जैसे 'सदृश' से 'सरिस', 'सदृक्ष'से 'सारिखा' 'द्वादश'से 'बारह' और 'ऋद्धि' 'सिद्धि' आदिसे 'रिधि', 'सिधि, आदि शब्द बन गये। कहीं-कहीं छन्दके अनुरोधसे गोस्वामीजीने 'ध' के स्थानमें भी 'द्ध' का प्रयोग किया है, जैसे 'क्षुधित'के स्थानमें उन्होंने एकाध जगह 'छुद्धित' शब्दका व्यवहार किया है।

(५२) कहीं-कहीं पदान्तके 'द'के स्थानमें 'ग' का प्रयोग भी किया गया है, जैसे 'पद'के स्थानमें 'पग'का प्रयोग देखनेमें आता है।

(५३) शब्दोंके मध्यवर्ती तथा पदान्तके 'ध'के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है—जैसे 'कर्णधार'का 'कड़हार', 'पुत्रवधू' का 'पुतोहू' और 'क्रोध' का 'कोह' हो गया।

(५४) कहीं-कहीं पदान्तके 'न' के स्थानमें 'म' आदेश हो जाता है, जैसे 'स्थान'का 'ठाम' हो गया।

(५५) 'न'के साथ 'य'का संयोग होनेपर कहीं-कहीं 'य'का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'अन्य'का 'आन' और 'पुन्य' (पुण्य) का 'पून' हो गया।

(५६) कहीं-कहीं शब्दोंके मध्यवर्ती 'प'का लोप होकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है—जैसे 'दीप'से 'दिआ' (दिया), 'श्रृंगवेरपुर'से 'सिंगरौर' (सिंगरउर), 'भूपाल'से 'भुआल' और जनक-पुर'से 'जनकौर' (जनकउर) हो गया—जिससे आगे चलकर 'जनकौरा' (जनकपुरवासी) शब्द बन गया।

(५७) कहीं-कहीं शब्दोंके मध्यवर्ती और पदान्तके 'प'के स्थानमें 'व' आदेश हो जाता है, जैसे 'वप' धातुसे 'बवा' (बोया), 'शपथ'से 'सौंह' (मूल 'सवथ'), 'सपत्नी'से 'सवति' (सौत), 'अपर'से 'अवर' (और), 'काष्ठपात्र'से 'कठवता' (कठौता) और 'भाद्रपद'से 'भादव' (भादौं) शब्द बन गये। 'भाद्रपद'के अन्तिम 'द' का लोप हो जाता है।

(५८) 'प' के आगे 'त' का संयोग होनेपर 'प' को 'त' आदेश हो जाता है, जैसे 'सप्त'से 'सत्त' और 'सप्तति'से 'सत्तरि' (सत्तर) हो गया। 'सत्त'से फिर नियम १३ के अनुसार 'सात' हो जाता है।

(५९) शब्दोंके मध्यवर्त्ती 'फ'के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है, जैसे 'मुक्ताफल'के स्थानमें 'मुकताहल' हो गया।

(६०) 'ब'के स्थानमें कहीं-कहीं 'भ' हो जाता है, 'सब'की जगह गोस्वामीजीने एकाध बार 'सभ' का प्रयोग किया है।

(६१) शब्दोंके मध्यवर्ती और पदान्तके 'भ'के स्थानमें कहीं-कहीं 'ह' आदेश हो जाता है—जैसे 'लाभ'से 'लाह', 'सौभाग्य'से 'सोहाग', 'शुभ' धातुसे 'सोहना' और 'लभ्' धातुसे 'लहना' क्रिया बन गयी।

(६२) पदान्तके 'ध्य'को कहीं-कहीं 'झ' आदेश हो जाता है और पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'संध्या'से 'साँझ' और 'मध्य'से 'माझ' हो गया।

(६३) कहीं-कहीं शब्दोंके मध्यवर्त्ती तथा पदान्तके 'म' का लोप होकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है और उसे सानुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'भूमि'का 'भुइँ', 'नामु'का 'नाउँ', 'ठाम' (स्थान) का 'ठाउँ', 'ग्राम'का 'गाउँ' और 'कुमार'का 'कुअँर' अथवा 'कुआँर'

(कुँअरा) हो गया। पीछेसे उच्चारणकी सुविधाके लिये 'आ'की जगह 'कु'को सानुनासिक कर दिया गया ।

(६४) शब्दोंके मध्यवर्त्ती तथा पदान्तके 'म'के स्थानमें कहीं-कहीं 'व' आदेश हो जाता है, जैसे 'नम्' धातुसे 'नवना' क्रिया, 'प्रमान' से 'प्रवान', 'रमण' से 'रवन', 'गमन' से 'गवन', 'दमन' से 'दवन' और 'श्यामकर्ण' से 'सावकरन' हो गया। कहीं-कहीं ऐसे शब्दोंमें 'व' को अथवा उसके पूर्ववर्त्ती वर्णको सानुनासिक कर दिया जाता है; जैसे 'पामर' से 'पावँर', 'आम्रराजि'से 'अँवराई', 'समदर्शी', से 'सवँदरसी', 'श्यामल' से 'साँवरो', 'भ्रमर' से 'भँवर', 'भ्रम्' धातुसे 'भँवाना' क्रिया, 'सप्तम', 'अष्टम' से 'सातवँ', 'आठवँ' और 'आ+चम्' धातुसे 'अँचवना' क्रिया बन गयी। इसके विपरीत कहीं-कहीं 'व' के स्थानमें 'म' आदेश हो जाता है, जैसे 'यवन' के स्थानमें 'जमन' और 'यवनिका' के स्थानमें 'जमनिका' हो गया। व्रजमें अब भी 'चावल' को 'चामर' और 'पाँव' को 'पाम' बोलते हैं। कहीं-कहीं 'म' के स्थानमें 'ब' भी हो जाता है, जैसे 'आम्र' से 'आँब' हो गया।

(६५) 'म' और 'ह' का संयोग होनेपर तथा कहीं-कहीं 'म' और 'ह' के पार्श्वस्थ होनेपर भी दोनोंके स्थानमें एकरूप 'भ' आदेश हो जाता है, जैसे 'महानस' (रसोईघर) का 'भानस' और 'ब्राह्मण' का 'बाभन' हो गया। कहीं-कहीं इसके विपरीत 'भ' के स्थानमें 'म्ह' आदेश हो जाता है, जैसे सँभारना (सं+भृ) से 'सम्हारना' क्रिया बन गयी। कहीं-कहीं 'म्ह' को तोड़कर 'मुह' कर दिया जाता है, जैसे 'जृम्भ्' (जँभाई लेना) से 'जमुहाना' हो गया।

(६६) कहीं-कहीं शब्दोंके मध्यवर्त्ती अथवा पदान्तके 'य' का लोप होकर उनके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है, जैसे 'यातनामयी' का 'जातनामई', 'विषयी'का 'बिषई', 'दुःखदायी'का 'दुखदाई', 'विनयी' का 'बिनई', 'विजयी'का 'बिजई', 'कैकेयी' का 'कैकेई' अथवा 'कैकई', (उच्चारणसाम्यसे इसके स्थानमें कहीं-कहीं 'कैकै' भी लिखा मिलता है),

'वायु' का 'बाउ' और 'पीयूष' का 'पीऊष' हो गया। कहीं-कहीं 'य' के स्थानमें 'इ' आदेश हो जाता है—जैसे 'सहाय' का 'सहाइ' 'रघुराय'का 'रघुराई', 'माय' का 'माई', 'समुदाय' का 'समुदाई' और 'विषयक' का 'बिषइक' हो गया।

(६७) 'य' के पूर्व किसी अन्यवर्णका संयोग होनेपर कभी-कभी 'य' का लोप हो जाता है—जैसे 'स्यन्दन' का 'संदन', 'अन्यत्र'का 'अनत', 'ज्योति'का 'जोति' 'माणिक्य'का 'मानिक', 'श्यामल'का'साँवरो', 'श्यामकर्ण' का 'सावकरन' हो गया। कहीं-कहीं ऐसे शब्दोंमें 'य' के स्थानमें 'इ' आदेश हो जाता है—और वह उसके पूर्ववर्त्ती व्यञ्जनमें मिल जाता है—जैसे 'अगस्त्य' से 'अगस्ति', 'विन्ध्य' से 'बिंधि', 'अवश्य' से 'अवसि', 'व्यञ्जन' से 'बिंजन', 'सस्य' (अनाज) से 'ससि', 'विकटास्य' से 'बिकटासि', 'असाध्य' से 'असाधि', 'व्यङ्ग्य' से 'बिंग्य', 'सत्यभाव'से 'सतिभाउ', 'व्यभिचारी' से 'बिभिचारी', 'व्यवहार' से 'बिहार' और 'व्यथा' से 'बिथा बन गया।

(६८) पदान्तके 'य' के अव्यवहित पूर्वमें आनेवाले 'इ' को कहीं-कहीं दीर्घ करके 'य' का लोप कर दिया जाता है, जैसे 'तिय' (स्त्री) का 'ती', 'पिय' (पति) का 'पी', 'हिय' (हृदय) का 'ही', 'सुनिय' (सुनिअ) का 'सुनी' और 'पाइय' (पाइअ) का 'पाई' हो गया।

(६९) 'र' के पूर्व किसी और व्यञ्जनका संयोग होनेपर 'र' का प्रायः लोप हो जाता है' जैसे 'प्रन' से 'पन', 'त्रिय' (स्त्री) से 'तिय', 'प्रिय' से 'पिय', 'प्रेम' से 'पेम', 'प्रयाग', से 'पयाग', 'प्रयाण' से 'पयान', 'अन्यत्र' से 'अनत', 'गात्र' से 'गात', 'ग्रह' धातुसे 'गहना' क्रिया, 'रात्रि' से 'राति', 'त्रिपुण्ड्र' से 'त्रिपुंड', 'त्रिशिरा' से 'तिसिरा', 'त्रिभुवन' से 'तिभुवन', 'द्रोह' से 'दोह और 'क्रोध' से 'कोह' हो गया।

(७०) शब्दोंके बीचमें कहीं-कहीं 'र' अथवा 'अर' जोड़ देते हैं—जैसे 'शाप' से 'श्राप' अथवा 'सराप', 'कोटि' से 'करोरी' (करोड़),

'देखाया' (दिखावा) से 'देखरावा' (इसीसे आगे चलकर 'दिखलाया' बन गया) और 'हलावहिं' (हिलाते हैं) से 'हलरावहिं' बन गया। कहीं-कहीं शब्दोंके अन्तमें भी 'र' जोड़ देते हैं, जैसे 'भी' (भय) से 'भीर' हो गया। इसके विपरीत कहीं-कहीं उल्टा पदान्तके 'र' का लोप हो जाता है, जैसे 'क्षणभङ्गुर' का 'छनभंगु' हो गया।

(७१) पदान्तके 'र' का कहीं-कहीं लोप करके उसके साथका स्वरमात्र रहने दिया जाता है, जैसे 'करि' ('करके' अथवा 'की'—सम्बन्ध-कारकका चिह्न) का 'कै' (मूलरूप 'कइ'), 'परि' (चाहे, निश्चय ही, परंतु) का 'पै' (मूलरूप 'पइ') और 'फुलवारी' का 'फुलवाई' हो गया। गोरखपुरके आसपास अब भी 'करके' को 'कैके' और 'धरिके' को 'धैके, आदि बोलते हैं।

(७२) रुकारान्त विशेषण शब्दोंके आगे पुल्लिंगमें 'अ' और स्त्रीलिंगमें 'इ' या 'ई' जोड़ देते हैं, जैसे 'करु' (कटु) से 'करुअ', 'करुई' (इन्हींसे आगे 'कडुआ' और 'कडुई' बन जाते हैं), 'हरु' ('लघु' के 'घ' को 'ह' और 'ल' को 'र' कर देनेसे वर्णविपर्ययसे 'हरु' बन जाता है) से 'हरुअ' (हलका, हल्लुक), 'हरुइ' (हल्की) और 'गुरु' से 'गरुअ' (गरू, भारी) और 'गरुइ' बन जाते हैं।

(७३) रेफके आगे किसी अन्य व्यञ्जनका संयोग होनेपर कभी-कभी रेफका लोप हो जाता है और पूर्ववर्त्ती स्वरको प्रायः दीर्घ कर दिया जाता है—जैसे 'वर्ति' से 'बाती', 'कीर्त्ति' से 'कीती' 'सर्व' से 'सब' और 'कार्य' से 'काज' हो जाता है। रेफ अथवा 'ऋ' के परवर्त्ती 'त', 'ध' अथवा 'द्ध' को कभी-कभी क्रमशः 'ट' और 'ढ' आदेश हो जाता है और 'ट' तथा 'ढ'के संयुक्त रेफ अथवा अन्य किसी व्यञ्जनको भी क्रमशः 'ट' अथवा 'ढ' आदेश हो जाता है—जिससे 'वर्त्म' का 'बट्ट', 'सार्द्ध' का 'सड्ढ', 'वृद्ध' का 'बुड्ढ' और 'वर्ध' ('वृध्' धातुके प्रेरणार्थक रूप) से 'बड्ढ' हो जाता है और इनसे नियम १३ के अनुसार क्रमशः 'बाट' (मार्ग), 'साढ़' (जैसे 'साढ़साती') 'बूढ़' और 'बाढ़' शब्द बन जाते हैं। रेफके पीछे 'प' का

संयोग होनेपर कभी-कभी रेफके स्थानमें 'प' आदेश हो जाता है, जैसे 'सर्प' से 'सप्प' और 'खर्पर' से 'खप्पर' शब्द बन गया। 'सप्प' से नियम १३ के अनुसार 'साँप' हो गया। रेफके आगे 'य' अथवा 'म' का संयोग होनेपर कहीं-कहीं रेफ 'य' के पूर्ववर्त्ती व्यञ्जनके आगे संयुक्त हो जाता है, जिससे 'पर्यन्त' से 'प्रजन्त', 'तिर्यक्' (पशुपक्ष्यादि योनि) से 'त्रिजग' और 'कर्म' से 'क्रम' बन गया।

(७४) शब्दोंके मध्य अथवा अन्तमें रेफके पीछे किसी अन्य व्यञ्जनका संयोग होनेपर रेफके आगे उसी स्वरका ह्रस्वरूप जोड़ दिया जाता है, जो रेफके पहले होता है, जैसे 'मूर्ख' से 'मूरुख', 'घुर्घुर' शब्दसे 'घुरुघुराना' क्रिया और 'पूर्व' (पहला) से 'पूरुब' शब्द बन गया। दिशावाचक 'पूर्व' शब्दके स्थानमें 'पूरब' का ही प्रयोग मिलता है।

(७५) 'ष'के पूर्व रेफका संयोग होनेपर विकल्पसे रेफके स्थानमें 'रि' आदेश हो जाता है और 'ष' को 'स' हो जाता है, जैसे 'वर्ष' (साल) के स्थानमें विकल्पसे 'बरष' और 'बरिस' और 'वर्ष्' धातुके स्थानमें विकल्पसे 'बरषना' और 'बरिसना' क्रियाका प्रयोग किया गया है। 'बरिसना' के सादृश्यसे 'बरजना' (मना करना) के स्थानमें भी 'बरिजना' का प्रयोग हुआ है।

(७६) शब्दोंके मध्यवर्त्ती तथा पदान्तके 'ल' के स्थानमें कहीं-कहीं 'र' आदेश हो जाता है--जैसे 'काली' से 'कारी', 'विकराल' से 'बिकरार' 'कदली' से 'कदरी' 'फल' से 'फर', 'फलाहार' से 'फरहार', 'फल्', धातुसे 'फरना' क्रिया, 'मूल' से 'जड़' के अर्थमें 'मूरि' और 'मूल द्रव्य' (जिसपर सूद लगाया जाता है) के अर्थमें 'मूर', 'धूलि' से 'धूरि', 'अंत्रावली' से 'अंतावरी', 'गल' (गले) से 'गर', 'जल' से 'जर', 'शीतल' से 'सिअर', और 'श्लाघ्' धातुसे 'सराहना' क्रिया बन गयी।

(७७) कहीं-कहीं शब्दोंके आदि अथवा मध्यके 'ल' के स्थानमें 'न' आदेश हो जाता है, जैसे 'पलास' का 'पनास' और 'लंघ्' धातुसे 'नाघना' क्रिया बन गयी। इसके विपरीत कहीं-कहीं 'न' के स्थानमें 'ल'

आदेश हो जाता है, जैसे नौकाके स्थानमें एकाध जगह 'लौका' का प्रयोग हुआ है।

(७८) 'व' के पूर्व किसी और व्यञ्जनका संयोग होनेपर 'व' के स्थानमें कहीं-कहीं 'उ' और कहीं 'ओ' आदेश हो जाता है—जैसे 'स्वभाव' के स्थानमें 'सुभाउ', 'त्वरित' के स्थानमें 'तुरित', 'स्वतन्त्र' के स्थानमें 'सुतंत्र', 'त्वरावती' के स्थानमें 'तोरावति' शब्द बन गये। कहीं-कहीं ऐसे स्थलोंमें 'व' का लोप ही कर दिया जाता है, जैसे 'श्वशुर', से 'ससुर' 'सरस्वती' से 'सरसइ', 'स्वरूप' से 'सरूप', 'जिह्वा' से 'जीहा', 'ज्वर' से 'जर', 'पार्श्व' से 'पास', 'श्वास' से 'साँस', 'तेजस्वी' से 'तेजसी', 'विध्वंस' से 'विधंस', 'द्वंद्व' से 'द्वंद' और 'सर्वस्व' से 'सरबस' बन गया। कहीं-कहीं शब्दोंके मध्यवर्त्ती 'व' का भी लोप करके उसके साथका स्वरमात्र शेष रहने दिया जाता है, जैसे 'भुवन' का 'भुअन' हो गया।

(७९) पदान्त के 'व' के स्थानमें कहीं-कहीं, खासकर प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके एकवचनमें, 'उ' आदेश हो जाता है—जैसे 'आरव' (शब्द) से 'आरउ' (आरौ), 'सचिव' से 'सचिउ', 'देव' से 'देउ' और 'भाव' से 'भाउ' बन गया।

(८०) पदान्तमें 'श'के पीछे रेफका संयोग होनेपर 'रेफ'का लोप करके पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'श्वश्रू', शब्दसे 'सासू' बन गया।

(८१) 'ष' के साथ 'ट' अथवा 'ठ' का संयोग होनेपर दोनोंके स्थानमें एक रूप 'ठ' आदेश हो जाता है और पूर्ववर्त्ती स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है—जैसे 'अष्ट' से 'आठ', 'दृष्ट' से 'दीठा', 'नष्ट' से 'नाठा' (राजस्थानीमें अब भी इस शब्दका 'भाग गया' के अर्थमें प्रचार है), 'मुष्टि' से 'मूठी', 'षष्टि'से 'साठि' और 'पृष्ठ' से 'पीठि' बन गया।

(८२) शब्दोंके आदि, मध्य अथवा अन्तके 'ष' के स्थानमें कहीं-कहीं 'स' आदेश हो जाता है—जैसे 'षष्टि' से 'साठि', 'षोडश' से 'सोरह' 'तुषार' से 'तुसार', 'दोष' से 'दोस', 'रोष' से 'रोस', 'शेष' से 'सेस',

'मनुष्यता' से 'मनुसाई', 'तृष्णा' से 'तृस्ना' और 'आशिष' से 'असीस' बन गया। शब्दोंके आदिके 'ष' को कहीं-कहीं 'छ' आदेश भी हो जाता है, जैसे 'षष्' से 'छह' हो गया।

(८३) 'स' के आगे 'त' का संयोग होनेपर दोनोंके स्थानमें एक-रूप 'थ' आदेश हो जाता है और पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'हस्त' से 'हाथ' हो गया। 'अस्त' शब्दसे भी इसी प्रकार अँथैना (अस्त होना) क्रिया बन गयी।

(८४) 'स्' के साथ 'थ्' का संयोग होनेपर 'स्' का लोप हो जाता है - जैसे 'स्थिर', का 'थिर', 'स्थिति' का 'थिति', 'स्थपति' का 'थपति' और 'स्थापयन्ति' क्रियाका 'थापहिं' हो गया।

(८५) 'स' के पूर्व 'त' अथवा 'प' का संयोग होनेपर तथा कहीं-कहीं केवल 'स' को भी 'छ' हो जाता है। इस प्रकार 'स' का 'छ' होनेपर संयुक्त 'त्' का कहीं-कहीं लोप हो जाता है और कहीं-कहीं उसके स्थानमें 'च' आदेश हो जाता है—जैसे 'उत्साह' से 'उछाह', 'मत्स्य' से 'मच्छ', 'वत्सल' से 'बछल', 'उत्संग' (गोद) से 'उछंग', 'मत्सर' (डाह) से 'मच्छर', 'वत्स' से 'बच्छ', 'अपसरा' से 'अपछरा' और 'अस्' (होना) धातुसे 'अछत' (होते हुए) कृदन्त बन गया।

(८६) किसी-किसी शब्दके पूर्व छन्दके अनुरोधसे गोस्वामीजीने 'स' जोड़ दिया है—जैसे 'प्रेम' के स्थानमें 'सप्रेम', 'चेतन' के स्थानमें 'सचेतन', 'चर' के स्थानमें 'सचर', 'चकित' के स्थानमें 'सचकित', 'अवकाश' के स्थानमें 'सावकास', 'अनुकूल' के स्थानमें 'सानुकूल', 'भीत' के स्थानमें 'सभीत' और 'संकेउ' (शंकित हुआ) के स्थानमें 'ससंकेउ' क्रियाका प्रयोग हुआ है।

(८७) शब्दोंके मध्यवर्त्ती अथवा पदान्तके 'श', 'ष' अथवा 'स'—तीनोंके स्थानमें 'ह' आदेश हो जाता है—जैसे 'दश' से 'दह', 'विंशति' (बीस) के स्थानमें 'बीह', 'एकादश', 'द्वादश', 'त्रयोदश', 'चतुर्दश', 'पञ्चदश', 'षोडश', 'सप्तदश', और 'अष्टादश' से क्रमशः

'एगारह', 'बारह', 'तेरह', 'चौदह', 'पंद्रह', 'सोरह', 'सतरह' और 'अठारह', 'केसरी' से 'केहरि' (सिंह); 'एष' से 'एह' (यह), 'स्ना' धातुसे 'अन्हाना' अथवा 'नहाना' क्रिया और 'निष्काम' से 'निहकाम' बन गया ।

(८८) शब्दोंके आदि अथवा अन्तके 'ह' का कहीं-कहीं लोप होकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह जाता है, जैसे 'मोही' के स्थानमें 'मोई' (मोहित हुई) और 'हृष्ट-पुष्ट' के स्थानमें 'रिष्ट-पुष्ट' शब्दोंका प्रयोग हुआ है ।

(८९) हलन्त शब्दोंको गोस्वामीजीने अकारान्त करके प्रयोग किया है—जैसे 'सकृत्' को 'सकृत', 'पूषन्', (सूर्य) को 'पूषन', 'राजन्' को 'राजन' ('राजा' का सम्बोधन), 'उपनिषद्' को 'उपनिषद', 'जगत्' को 'जगत' 'दंडवत्'को 'दंडवत', 'प्रावृट्'को 'प्राबिट' (पावस), 'मनाग्' को 'मनाग', 'दृग्' को 'दृग' और 'पृथक्' को 'पृथक' कर दिया गया है । इसी प्रकार 'मूर्त्तिमत्' को 'मूरतिमंत', 'हनुमत्' को 'हनुमंत', 'जाम्बवत्' को 'जामवंत' और 'हिमवत्' को 'हिमवंत' कर दिया गया है ।

इस प्रकार संक्षेपमें शब्दोंके रूपान्तरके ये ८९ मुख्य नियम हैं । अब संयुक्ताक्षरोंको मानसमें किस प्रकार तोड़ा गया है, इस विषयमें कुछ निवेदन कर इस विषयको समाप्त किया जाता है । संयुक्ताक्षरोंको तोड़नेके कई नियम मालूम होते हैं । एक प्रकार तो यह है कि संयुक्त वर्णोंको तोड़कर उनमेंसे पहले वर्णको सस्वर बना दिया गया है । इसके उदाहरण वर्णविचार-को प्रारम्भ करते समय बहुत-से दिये गये हैं । दूसरा प्रकार यह है कि संयुक्त वर्णके पूर्व जो स्वर है, वही स्वर संयुक्त वर्णोंमेंसे पहले वर्णके साथ जोड़ दिया जाता है । इस प्रकार 'मुक्ति' के स्थानमें 'मुकुति', 'युक्ति' के स्थानमें 'जुगुति', 'शत्रुघ्न' के स्थानमें 'सत्रुघुन', 'गुप्त' के स्थानमें 'गुपुत' और 'लुब्ध' के स्थानमें 'लुबुध' हो गया । 'पत्नी' 'पति' शब्दका स्त्रीलिङ्ग-का रूप होनेके कारण उसे 'पतिनी' बना दिया गया । 'तृप्त' में पूर्व स्वर 'ऋ' होनेके कारण और 'ऋ' 'इ' से अधिक मिलता हुआ होनेके कारण उसका

रूप 'तृपित' हो गया। 'मुख्य' शब्दमें 'ख्य' का 'य' तालुस्थानीय होनेके कारण 'ख' में तालुस्थानीय 'इ' स्वर जोड़ दिया गया, जिससे उसका रूप 'मुखिया' हो गया। इसी प्रकार 'याज्ञवल्क्य' का 'जागबलिक' और 'बाह्य' का 'बाहिज' हो गया। 'व्याधि', 'द्वारें' और 'द्वौ' की सन्धि तोड़कर छन्दके अनुरोधसे उन्हें 'बिआधि', 'दुआरें' और 'दुऔ' कर दिया गया। 'प्रीते' में संयुक्त वर्णके पूर्व कोई स्वर न होनेके कारण पीछेके स्वरके अनुसार उसे 'पिरीते' कर दिया गया। 'व्रत' 'वृ' धातुसे बना हुआ होनेके कारण उसका 'बिरिद' हो गया। 'श्वेत' का 'व' स्थानकी दृष्टिसे 'उ' के अधिक निकट होनेके कारण उसका 'सुवेत' बना और 'सुवेत' से 'सुपेत' (सफेद) और 'सुपेती' (सफेद चादर) शब्द बन गये। 'स्मृति' का भी 'म' स्थानकी दृष्टिसे 'उ' के अधिक निकट होनेके कारण उसका छन्दके अनुरोधसे 'सुमृति' रूप हो गया। 'लक्ष्मण' और 'पुण्यश्लोक' के स्थानमें 'लछिमन' और 'पुन्यसिलोक' का प्रयोग क्योंकर हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण ध्यानमें नहीं आता। सम्भव है, उच्चारणके सुभीतेके कारण ही ऐसा किया गया हो। 'श्लोक' को तो अब भी बहुत-से लोग उच्चारणके दोषसे अथवा अधिक पढ़े-लिखे न होनेके कारण 'सिलोक' ही बोलते हैं।

शब्दविचार (Etymology)

मानसके शब्दोंको अंग्रेजी व्याकरणके अनुसार मुख्यतया निम्नलिखित ७ वर्गोंमें बाँट सकते हैं—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, (३) विशेषण, (४) क्रियाविशेषण अव्यय, (५) सम्बन्धबोधक अव्यय, (६) समुच्चयबोधक अव्यय और (७) विस्मयादिबोधक अव्यय। इनमेंसे प्रत्येकका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

संज्ञा

संज्ञाएँ भी अंग्रेजी व्याकरणके अनुसार चार विभागोंमें बाँटी जा सकती हैं—(१) व्यक्तिवाचक संज्ञा, (२) जातिवाचक संज्ञा, (३) समुदायवाचक संज्ञा और (४) भाववाचक संज्ञा। इनमेंसे जातिवाचक संज्ञाओंके

सम्बन्धमें तो कुछ कहना नहीं है। शेष तीन प्रकारकी संज्ञाओंके सम्बन्धमें दो-चार बातें निवेदन करनी हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ मानसकी बहुत-सी ऐसी हैं, जिन्हें हम एक प्रकारसे गुणवाचक कह सकते हैं; क्योंकि वे अभिधेय व्यक्तिके गुणोंको लेकर बनी हैं और एक गुणवाचक शब्दके अनेक पर्याय होनेके कारण एक व्यक्तिके अनेक नाम मिलते हैं—जैसे रावणके 'दससीस', 'दसकंधर', 'दसानन', 'दसमुख', 'दसमाथ', 'दसकंठ', 'दसमौलि' आदि; सीताके 'जानकी', 'जनकसुता', 'बैदेही', 'मिथिलेसकुमारी' आदि; मेघनादके 'घननाद', 'बारिदनाद', 'इंद्रजित', आदि; श्रीरामके 'रघुबर', 'रघुबीर', 'रघुपति', 'रघुराई', 'सीतापति', 'रावनारि', 'रघुकुलकेतू' आदि; शत्रुघ्नके 'रिपुदवन', 'रिपुसूदन', 'सत्रुहन', 'सत्रुघुन' आदि तथा कामदेवके 'मनसिज', 'मनोज', 'बारिचरकेतू', 'झषकेतू', 'जलचरकेतू', 'मनोभव' आदि अनेक नाम मिलते हैं। यह संस्कृतके कवियोंकी शैली है और उसी कविसम्प्रदायके अनुयायी होनेके नाते गोस्वामीजीने भी इसे अपने ग्रन्थोंमें अपनाया है।

समुदायवाचक संज्ञाएँ कहीं-कहीं विशेषणके रूपमें भी प्रयुक्त हुई हैं, जैसे भुवन निकाय पति (समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी) गन, समूह, परिवार, समाज आदि शब्द समुदायवाचक संज्ञाएँ हैं।

भाववाचक संज्ञाएँ तत्सम शब्दोंसे और कहीं-कहीं तद्भव शब्दोंसे भी 'त्व', 'ता', 'य' आदि तद्धित प्रत्यय लगाकर बनायी गयी हैं-जैसे 'प्रभुता' 'उपरोहित्य' आदि। अधिक शब्द संज्ञा तथा विशेषण शब्दोंके पीछे 'आई' 'पन', 'प', 'ई', 'अ' तथा 'पौ' प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं—जैसे 'मीत' से 'मिताई', 'बली' (बलवान्) से 'बरिआई' (जबर्दस्ती), 'बड़' से 'बड़ाई', 'भल' से 'भलाई', 'नीच' से 'निचाई', 'गरुअ' से 'गरुआई', 'करुअ' से 'करुआई', 'कादर' से 'कदराई', 'कुटिल' से 'कुटिलाई', 'बिधवा' से 'बिधवपन', 'सयान' से 'सयानप', 'भाई' से 'भायप', 'रखबार' से 'रखवारी', 'समधी' से 'सामध', 'सिसु' से 'सैसव', 'पुरुष' से 'पौरुष' और 'अपना' से 'अपनपौ'। ऊपरके उदाहरणोंसे स्पष्ट होगा कि

जिस शब्दके पीछे 'आई' प्रत्यय जोड़ा जाता है, उसका प्रथम स्वर यदि 'दीर्घ' हो तो उसे ह्रस्व कर दिया जाता है। इसी प्रकार जिस शब्दके आगे 'पौ' अथवा 'पन' प्रत्यय लगाया जाता है, उसके पदान्तका स्वर यदि दीर्घ हो तो उसे ह्रस्व कर दिया जाता है और जिसके आगे 'अ' प्रत्यय लगाया जाता है, उसके प्रथम स्वरकी वृद्धि कर दी जाती है—अर्थात् 'अ' को 'आ', 'इ', 'ई' को 'ऐ' और 'उ', 'ऊ' को 'औ' कर दिया जाता है। कहीं-कहीं भाववाचक तथा समुदायवाचक संज्ञाओंके आगे भी पादपूरण-के लिये 'आई' अथवा 'ई' प्रत्यय जोड़ देते हैं—जैसे 'रजा' से 'रजाई', 'सजा' से 'सजाई', 'प्रभुता' से 'प्रभुताई', 'कटक' से 'कटकाई' आदि। क्रियाओंसे भी 'अन', 'अनि' आदि कृदन्त प्रत्यय लगाकर भाववाचक संज्ञाएँ बनायी गयी हैं—जैसे 'सिखावन', 'रहनि' आदि।

लिङ्ग

आजकलकी हिंदीकी भाँति मानसकी भाषामें भी दो ही लिङ्ग हैं—पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग। गोस्वामीजीने लिङ्गके मामलेमें बड़ी स्वतन्त्रता बरती है। मानसमें ऐसे शब्द बहुत मिलेंगे जो देखनेमें पुँल्लिङ्ग-से मालूम होते हैं, परंतु गोस्वामीजीने उन्हें स्त्रीलिङ्ग बना दिया है। उदाहरणतः 'साप', 'बरूथ', 'दल', 'बपु', उर', 'मोह', 'परिहास', 'इतिहास', 'उपहास', 'अनुसासन', 'निमेष', 'अधार', 'प्रस्न', 'असमंजस', 'परितोष', 'देह', 'भय', 'बयन' अथवा 'बैन' (यद्यपि 'वचन' जिसका यह बिगड़ा हुआ रूप है, पुँल्लिङ्गमें ही व्यवहृत हुआ है), 'सयन' (सोना), 'मनोरथ', 'तरक', 'सोपान', 'साधन', 'भायप', 'सयानप' मारवाड़ी 'स्याणप', 'बय', 'कुसल' 'खेम', 'मीन', 'पलँग', 'आकर', 'उपाय', 'सहाय', 'श्रम', 'सौच', 'बिलाप' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं जो देखनेमें पुँल्लिङ्ग-से मालूम होते हैं और आजकल भी प्रायः पुँल्लिङ्गमें ही प्रयोग किये जाते हैं; परंतु गोस्वामी-जीने उन्हें अधिकतर स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग किया है तथा किसी-किसी शब्दको (जैसे 'अनुसासन', 'इतिहास', 'मनोरथ', 'उर', 'भय', 'श्रम' आदि)

पुँल्लिङ्गमें भी प्रयोग किया है। इसके विपरीत उन्होंने 'जटा', 'लात', 'गाह' (गाथा), 'बिदा' आदि कुछ शब्दोंको, जो देखनेमें स्त्रीलिङ्ग-से मालूम होते हैं, पुँल्लिङ्गमें प्रयोग किया है। इसीसे कुछ मुद्रित प्रतियोंमें 'परिहास कीन्हि', 'मोरि अनुसासन', 'प्रस्न कीन्हिउँ', 'सनमुख कही न बैन', 'सयन कीन्हि', 'मनोरथ पुरउबि', 'भगति कि साधन' आदि पाठोंको 'परिहास कीन्ह', 'मोर अनुसासन', 'प्रस्न कीन्हेउ', 'सनमुख कहे न बैन', 'सयन कीन्ह', 'मनोरथ पुरउब', 'भगतिके साधन' आदि रूपमें बदलनेकी चेष्टा की गयी है—यद्यपि प्राचीन प्रामाणिक प्रतियोंमें यही पाठ मिलते हैं और एक नहीं, कई जगह उपर्युक्त शब्दोंका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग किया गया है। ऐसी दशामें हम इन पाठोंको प्रामादिक नहीं मान सकते। बात यह है कि पूरबमें अब भी लिङ्गके मामलेमें बड़ी गड़बड़ चलती है। गोरखपुरके आसपास तथा बिहार प्रान्तमें अब भी ऐसे प्रयोग सुननेको मिलते हैं, जिन्हें सुनकर एक पछाँही आदमीको हँसी आये बिना नहीं रह सकती। उदाहरणतः जहाँ हमलोग 'दही मीठा है', 'तौलिया अच्छा है', 'पहिया चलता है', 'हाथी आता है', 'यज्ञ हुआ' यही रात-दिन बोलते और सुनते चले आये हैं, वहाँ पूरबमें पढ़े-लिखे लोग भी 'दही खट्टी है', 'तौलिया धोयी हुई है', 'पहिया घूमती नहीं', 'हाथी पानी पीती है', 'यज्ञ हुई' आदि बोलनेमें कोई अशुद्धि नहीं मानते। ऐसी दशामें गोस्वामीजीने यदि उपर्युक्त प्रयोग अपनी भाषामें किये हैं तो हम उन्हें इसके लिये दोषी नहीं ठहरा सकते। अवश्य ही इससे पाठके निर्णयमें कुछ अड़चन हुई है और पूर्वापरका ठीक तरहसे मिलान न कर सकनेके कारण बहुत-से लोगोंने इस विषयमें गलती की है।

मानसके संज्ञा-शब्दोंके लिङ्गका निर्णय करनेमें हमें विशेषणों तथा क्रियाओंसे बहुत मदद मिलती है। इनके अतिरिक्त भी लिङ्ग-निर्णय करनेके दो-चार स्थूल नियम नीचे दिये जाते हैं—

(१) अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके प्रथमा और कहीं-कहीं (जहाँ विभक्ति-चिह्न नहीं दिया गया है) द्वितीया विभक्तिके एकवचनमें पदान्तके

'अ' को 'उ' आदेश हो जाता है, जैसे—'जब तें रामु ब्याहि घर आए', 'बरनउँ रघुबर बिमल जसु' इत्यादि ।

(२) अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंको कहीं-कहीं इकारान्त कर दिया गया है–जैसे 'बयार' के लिये 'बयारि', 'जड़' के लिये 'जरि', 'परिछन' के लिये 'परिछनि', 'पीठ' के लिये 'पीठि', 'खौर' के लिये 'खौरि', 'मूल' (जड़) के लिये 'मूरि', 'ठौर' के लिये 'ठोरी', 'सेना' के लिये 'धारि', 'खबर' के लिये 'खबरि' और 'सीप' के लिये 'सीपि' शब्दका प्रयोग किया गया है । 'जरि', 'पीठि', 'मूरि' और 'धारि'के साथ-साथ अर्थभेदसे 'जर', 'पीठ', 'मूर', और 'धार' शब्दका भी प्रयोग किया गया है–जो क्रमशः 'ज्वर', 'पीढ़ा' अथवा 'खड़ाऊँ' (चरनपीठ), 'मूल' (जिसपर सूद लगाया जाता है) और 'धारा' (प्रवाह) के वाचक हैं ।

(३) 'जटा', 'बिदा', 'गाहा' आदि कुछ शब्दोंको छोड़कर तथा उन शब्दोंको छोड़कर जो अकारान्त होते हुए भी छन्दके अनुरोधसे आकारान्त बना दिये गये हैं, अन्य सब आकारान्त संज्ञाशब्द—खासकर तत्सम शब्द प्रायः सभी स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त हुए हैं ।

(४) अकारान्त शब्दोंमें भी जो मूलतः आकारान्त होते हुए भी छन्दके अनुरोधसे अकारान्त बना दिये गये हैं, वे सब स्त्रीलिङ्ग हैं—जैसे सरित, आस, सेज (शय्या), धुर, सीम, रुज, बेर (वेला) आदि ।

(५) 'प' प्रत्यय लगाकर जो भाववाचक संज्ञाएँ बनायी गयी हैं वे स्त्रीलिङ्गहीमें प्रयुक्त हुई हैं--जैसे 'भायप', 'सयानप' आदि ।

(६) 'पन' तथा 'अन' प्रत्यय लगाकर जो भाववाचक संज्ञाएँ बनायी गयी हैं, वे पुँल्लिङ्गमें ही प्रयुक्त हुई हैं—जैसे 'बिधवपन', 'सिखावन' आदि ।

(७) अकारान्त शब्दोंमेंसे कुछ शब्द संस्कृतमें पुँल्लिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग होनेपर भी मानसमें स्त्रीलिङ्गमें अनुमानतः इसलिये प्रयुक्त हुए हैं कि उनके प्रसिद्ध पर्याय स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं—जैसे तूल (रूई),

तरंग (लहर), पटतर (उपमा), अनीक (सेना, फौज), आकर (खान), अनुसासन (आज्ञा), परिहास, उपहास (हँसी, दिल्लगी, मखौल, मज़ाक), हाट (दुकान), सोपान (सीढ़ी, पैड़ी), सहाय (मदद), सौंह, सपथ (सौगंद कसम) गंध (बास, बू), श्रम (थकावट, थकान)—परिश्रमके अर्थमें 'श्रम' का प्रयोग पुँल्लिङ्गमें ही हुआ है—दाम (माला, डोरी, रस्सी), चिबुक (ठोढ़ी), रितु (मौसिम), जय, बिजय (जीत) इत्यादि ।

(८) 'श्राप' तथा 'सराप' शब्द पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त हुआ है और 'साप' शब्द स्त्रीलिङ्गमें यद्यपि दोनों 'शाप' के ही बिगड़े हुए रूप हैं और एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं ।

(९) इकारान्त तथा ईकारान्त शब्द अधिकांश स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयुक्त हुए हैं ।

(१०) उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द प्रायः सभी पुँल्लिङ्गमें प्रयुक्त हुए हैं । कुछ उकारान्त शब्द जो स्त्रीलिङ्गमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके 'उ' का प्रायः लोप कर दिया गया है—जैसे 'तनु' का 'तन', 'धनुही' (छोटा धनुष) का 'धनहीं', 'धातु' का 'धात' और 'आयु' का 'आइ' (आय) कर दिया गया है । 'गुरु' शब्द पुँल्लिङ्ग होते हुए भी उसके स्थानमें अधिक बार 'गुर' शब्द ही प्रयोग हुआ है—यहाँतक कि कई बार उसका 'उर', 'सुर' आदि रकारान्त शब्दके साथ तुक भी मिलाया गया है । संस्कृतके निम्नलिखित कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका लिङ्ग मानसमें बदल गया है—

शब्द	संस्कृत	हिंदी
जय	पुँल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
देह	,,	,,
वस्तु	नपुंसक	,,
राशि	पुँल्लिङ्ग	,,
अग्नि	,,	आगि (स्त्री०)

शब्द	संस्कृत	हिंदी
शपथ (सौंह)	पुँल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
बाहु	,,	बाहँ (स्त्री०)
बिंदु	,,	बुंद (,,)

वचन

आधुनिक हिंदीकी भाँति मानसकी भाषामें भी दो ही वचन हैं—एकवचन और बहुवचन। संज्ञाओंके एकवचन और बहुवचनके रूपोंमें बहुत कम भेद रक्खा गया है। एक भेद तो ऊपर लिङ्गके प्रकरणमें बताया जा चुका है। वह यह है कि अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके प्रथमा और कहीं-कहीं द्वितीया विभक्तिके एकवचनके रूपोंमें पदान्तके 'अ' को 'उ' आदेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ भेद और हैं, जो नीचे बताये जाते हैं—

(१) अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके प्रथमा बहुवचनमें पदान्तके 'अ' के स्थानमें 'एँ' आदेश हो जाता है—जैसे 'निमेषें,' 'रेखें', 'चौकें', 'करवरें' (विपत्तियाँ) इत्यादि। राजापुरके अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें 'चौकें' को 'चौकइँ'के रूपमें लिखा गया है। 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' के समान होनेसे प्राचीन प्रतियोंमें कई जगह 'ऐ' के स्थानमें 'अइ' और 'अइ' के स्थानमें 'ऐ' का प्रयोग किया गया है। आजकल भी हिंदीमें अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंसे बहुवचनके प्रयोग इसी प्रकार बनाये जाते हैं।

(२) किसी-किसी अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दके भी प्रथमा बहुवचनमें पदान्तके 'अ' के स्थानमें 'ए' आदेश हो जाता है, जैसे 'बाजन' से 'बाजने' (बाजे, वाद्य) और 'पाहुन' से 'पाहुने' हो गया।

(३) वाकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके प्रथमा बहुवचनमें 'वा' के स्थानमें 'ए' आदेश हो जाता है, जैसे 'बधावा, (बधाई) से 'बधाए' हो गया।

(४) 'रिषि' शब्दके बहुवचनमें गोस्वामीजीने प्रथमा विभक्तिमें 'रिषय' शब्दका प्रयोग किया है, जो संस्कृतके 'ऋषयः' का बिगड़ा हुआ रूप है।

(५) ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दोंके प्रथमा बहुवचनमें पदान्तके 'ई' को अनुनासिक कर दिया गया है—जैसे नदीं, नारीं इत्यादि ।

(६) जातिवाचक संज्ञाशब्दोंके आगे 'निकर', 'गन', 'समुदाई', 'निकाय' आदि समुदायवाचक शब्द लगाकर बहुवचनका काम लिया गया है ।

(७) सम्बोधनके बहुवचनमें संज्ञा तथा विशेषण शब्दोंके पीछे 'हु' प्रत्यय लगाया गया है—जैसे 'भाइहु' (भाइयो), 'सठहु' (दुष्टो) इत्यादि । द्वितीया तथा चतुर्थी एकवचनमें दोनों लिङ्गोंके संज्ञाशब्दोंके पीछे 'हि' प्रत्यय लगाया जाता है—जैसे रामहि, गुरहि, कौसिलहि (कौसल्याको), सभहि (सभाको), राजहि (राजाको), हरिहि, कामिहि, कैकइहि, प्रभुहि, बधुहि (बहूको), पितहि इत्यादि ।

(८) तृतीया एवं सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें दोनों लिङ्गोंके संज्ञाशब्दोंके पीछे 'हिं' अथवा 'इँ' प्रत्यय जोड़ दिया गया है अथवा अन्तिम वर्णको सानुनासिक कर दिया गया है—जैसे मनहिं (मनमें), गवँहिं (शीघ्रतासे), मनसहिं (मनमें), सपनें (सपनेमें), भोरें (भूलसे), रायँ (राजाने), सुभायँ (स्वभावसे), कौसिलाँ (कौसल्याके द्वारा), पायँ (पैरपर), मायँ (माताने), सखाँ (सखाने), सेवाँ (सेवामें), बरिआईं (जबर्दस्तीसे), लरिकाईं (लड़कपनमें) इत्यादि ।

(९) प्रथमाको छोड़कर अन्य सभी विभक्तियोंके बहुवचनमें दोनों लिङ्गोंके संज्ञाशब्दोंके पीछे अकेले अथवा सम्बन्धबोधक अव्ययोंके पूर्व 'न' 'नि' 'न्ह' अथवा 'न्हि' प्रत्यय लगाया गया है—जैसे द्विजन्ह, बालकन्हि, मातन्ह, बरूथन्हि, चरनन, कमलनि, देवतन्ह, लातन्ह, मुनिन्ह, आँखिन्ह, तरुन्ह, सासुन्ह इत्यादि ।

(१०) कुछ शब्द–जैसे समाचार, प्रान आदि सदा बहुवचनमें ही प्रयुक्त हुए हैं ।

कारक

संस्कृत-व्याकरणके अनुसार हिंदीमें भी कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान,

अपादान और अधिकरण—ये छः कारक माने गये हैं। 'सम्बन्ध' और 'सम्बोधन' को मिलाकर कुछ लोग आठ कारक मानते हैं। इन आठ कारकोंको द्योतन करनेके लिये संस्कृतमें सात विभक्तियाँ मानी गयी हैं। कर्ता और सम्बोधनके लिये प्रथमा, कर्मके लिये द्वितीया, करणके लिये तृतीया, सम्प्रदानके लिये चतुर्थी, अपादानके लिये पञ्चमी, सम्बन्धके लिये षष्ठी और अधिकरणके लिये सप्तमी विभक्तिका प्रयोग होता है। सम्बोधनको स्वतन्त्र विभक्ति माननेसे आठ विभक्तियाँ हो जाती हैं। कर्मवाच्यकी क्रियाओंके साथ कर्ताके लिये तृतीया और कर्मके लिये प्रथमा विभक्तिका प्रयोग होता है, जैसा कि आगे उदाहरणोंसे स्पष्ट होगा।

अब नीचे विभक्तियोंके चिह्नोंका तथा भिन्न-भिन्न विभक्तियोंमें शब्दों-के रूप किस प्रकार बदल जाते हैं—इसका विचार किया जायगा। प्रथमा विभक्तिमें शब्दोंके पीछे कोई विभक्ति-चिह्न नहीं लगाया जाता। केवल अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके एकवचनमें पदान्तके 'अ' को प्रायः 'उ' कर दिया गया है—जैसे रामु, लखनु इत्यादि। राजापुरकी अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें इस नियमका विशेषरूपसे पालन किया गया है—यद्यपि वहाँ भी कई शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनमें इस नियमका उल्लङ्घन भी किया गया है। अयोध्याके बालकाण्डमें भी अंशतः इस नियमका पालन हुआ है। शेष काण्डोंकी जो प्राचीनतम प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें इस नियमका बहुत कम पालन हुआ है। राजापुरकी प्रतिके देखनेसे ही यह नियम ध्यानमें आया और इसी प्रकारके अन्य नियमोंका भी उसमें बहुत अंशोंमें पालन हुआ है; इसीलिये उसे उपलब्ध प्रतियोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है और इसीलिये हमने और-और काण्डोंमें भी यथासम्भव इन्हीं नियमोंका अनुसरण करनेकी चेष्टा की है। अस्तु,

प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें कहाँ-कहाँ क्या परिवर्तन होता है, यह ऊपर वचनके प्रकरणमें बताया जा चुका है—देखिये नियम १–५।

द्वितीया विभक्तिके एकवचनमें भी प्रथमाके एकवचनकी भाँति अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दोंके पदान्तके अकारको 'उ' कर दिया गया है।

ऐसा केवल वहीं हुआ है, जहाँ विभक्तिका चिह्न नहीं है। दोनों लिङ्गोंके अन्य सब शब्दोंके आगे तथा अकारान्त शब्दोंके आगे भी द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी विभक्तिके एकवचनमें 'हि' प्रत्यय लगाया जाता है (देखिये वचन-प्रकरण—नियम ७)। 'हि' प्रत्यय लगानेके पूर्व आकारान्त शब्दों-को प्रायः अकारान्त कर दिया जाता है—जैसे 'सीतहि', 'सभहि', 'राजहि', 'बिधातहि' इत्यादि। प्राचीन प्रतियोंमें कहीं-कहीं 'हि' का अनुस्वार-सहित प्रयोग मिलता है, परंतु यह ठीक नहीं मालूम होता। द्वितीया विभक्तिमें 'हि' का अनुस्वारसहित प्रयोग करनेसे प्रथम तो विभक्तियोंका निर्णय ठीक तरहसे नहीं हो सकेगा, जिससे अर्थ समझनेमें भी दिक्कत होगी; क्योंकि तृतीया और सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें भी 'हिं' प्रत्ययका प्रयोग मिलता है, जैसे 'गवँहिं' (फुरतीसे), 'मनसहिं' (मनमें) इत्यादि। द्वितीया विभक्तिमें भी अनुस्वारसहित 'हिं' का प्रयोग करनेसे यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि अमुक प्रयोग द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्तिका है या तृतीया अथवा सप्तमी विभक्तिका। तृतीया तथा सप्तमी विभक्तिमें तो बिना 'हिं' लगाये ही पदान्तके वर्णको सानुनासिक कर दिया जाता है—जैसे रायँ, हियँ, इत्यादि। दूसरी बात यह है कि ब्रज-भाषामें अवधीके हकारादि प्रत्ययोंका 'ह' घिसकर उसके साथका स्वरमात्र शेष रह गया है—जैसे अवधीके 'करहु, (मध्यमपुरुष बहुवचन) का ब्रज-भाषामें 'करौ' (करउ) हो गया, अवधीके 'करहिं' का ब्रजभाषामें 'करैं' (करइँ) हो गया, अवधीके 'सठहु' (सम्बोधन) का ब्रजभाषामें 'सठो' हो गया, अवधीके 'चरनन्हि' अथवा 'चरनन्ह' का ब्रजभाषामें 'चरननि' अथवा 'चरनन' हो गया और अवधीके 'मोहि' (मुझे) का ब्रजभाषामें 'मोय' (मोइ) हो गया। इसी प्रकार 'गोपालहि' (गोपालको) के स्थानमें ब्रजभाषामें 'गोपालै' प्रयोग होता है, जो 'गोपालइ' का सघनरूप है; किंतु उसमें 'लै' पर अनुस्वार नहीं है। यदि 'गोपालहि' के 'हि' पर अनुस्वार होता तो 'करैं' के 'रैं' की भाँति 'गोपालै' के 'लै' पर भी अनुस्वार होता। शब्दोंके आगे 'कहुँ', 'काहीं' तथा 'को' अव्यय लगाकर

भी द्वितीया तथा चतुर्थी विभक्तिका काम लिया जाता है—जैसे 'राम कहुँ' 'राम को' इत्यादि। चतुर्थीमें 'लगि', 'लगें', आदि अव्ययोंका भी प्रयोग होता है।

तृतीया विभक्तिके एकवचनके रूप कहीं-कहीं शब्दोंके अन्तिम वर्णको सानुनासिक करके, कहीं शब्दके आगे 'हिं' प्रत्यय लगाकर तथा कहीं-कहीं 'तें' (अथवा 'ते') 'सैं', 'सों', 'सन', 'पहिं', 'करि' आदि अव्यय लगाकर बनाये जाते हैं।

पञ्चमी विभक्तिमें भी 'तें', 'सैं', 'सों', 'चाहि' आदि अव्ययोंका प्रयोग होता है।

षष्ठी विभक्तिमें 'कर', 'केर', 'का', 'करि', 'केरि', 'कै', 'की', 'के', आदि अव्ययोंका प्रयोग होता है। सम्बद्ध संज्ञा पुँल्लिङ्ग एकवचन होनेपर 'का' 'कर', 'केर', 'को'; पुँल्लिङ्ग बहुवचन होनेपर 'केरे' और 'के' तथा स्त्रीलिङ्ग होनेपर दोनों वचनोंमें 'करि', 'कै', 'केरि', 'के', तथा 'की' का प्रयोग होता है—जैसे 'जनमु भरत को', 'रघुपति कर किंकर', 'रघुपति केर किंकर' अथवा 'रघुपति का* किंकर', 'दसकंधर केरे मुकुट' अथवा 'केवट के बैन', 'रघुपति करि दासी', 'रघुपति कै करनी', 'चेरी कैकइ केरि', 'सत्य सपथ करुनानिधान की' आदि। जो संज्ञा सम्बन्ध-कारकमें होती है, उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता।

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें भी तृतीया विभक्तिकी भाँति अन्तिम वर्णको सानुनासिक कर दिया जाता है अथवा शब्दके आगे 'हिं' प्रत्यय लगा दिया जाता है। बहुत बार 'महिं', 'महुँ', 'मो', 'माहिं', 'माझ', 'मझारी', 'मध्य', 'पहिं', 'पाहीं', 'पर', 'उपर', 'उपरि' आदि अव्यय लगाकर सप्तमी विभक्तिका काम लिया जाता है। अन्तिम वर्णको सानुनासिक बनाने-

* कहीं-कहीं छन्दके अनुरोधसे 'का' को ह्रस्व कर दिया जाता है—जैसे 'पितु आयसु सब धरम क टीका।'

की गुंजाइश न होनेपर कभी-कभी पूर्ववर्त्ती विशेषण अथवा सम्बन्धकारकके चिह्न 'की' अथवा 'के' को भी सानुनासिक बना दिया जाता है। जैसे—

'जस थोरेहुँ धन खल इतराई।' 'सब कें उर अभिलाषु अस।'

द्वितीयासे लेकर सप्तमी विभक्तितक बहुवचनमें शब्दके आगे 'न्ह', 'न्हि', 'न', अथवा 'नि' प्रत्यय लगाया जाता है। विभक्तिसूचक अव्ययोंके पहले भी बहुवचनमें इनमेंसे कोई प्रत्यय अवश्य लगाया जाता है।

सम्बोधनके बहुवचनमें शब्दोंके आगे 'हु' प्रत्यय लगाया जाता है—जैसे 'भाइहु' (हे भाइयो)! एकवचनमें कहीं-कहीं संस्कृतके अनुसार रूप देखनेको मिलते हैं—जैसे राजन (राजन्), सीते पुत्रि, देवि इत्यादि।

बहुत बार संज्ञाशब्दोंके पीछे कोई विभक्तिचिह्न नहीं लगाया जाता। ऐसे स्थलोंमें अर्थसे ही विभक्तिका पता लगता है।

समस्त पदोंमें भी बीचके पदोंका विभक्तिचिह्न लुप्त रहता है और गोस्वामीजीने अपने ग्रन्थोंमें संस्कृतकी भाँति समस्त पदोंका प्रचुरताके साथ प्रयोग किया है।

सर्वनाम

अंग्रेजी व्याकरणके अनुसार सर्वनाम पाँच वर्गोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—(१) व्यक्तिवाचक सर्वनाम, (२) प्रश्नवाचक सर्वनाम, (३) सम्बन्धवाचक सर्वनाम, (४) संकेतवाचक सर्वनाम तथा (५) अन्य प्रकारके सर्वनाम। व्यक्तिवाचक सर्वनामोंमें तीन पुरुष होते हैं—उत्तम, मध्यम और अन्य। उत्तम पुरुषके सर्वनाम हैं—'मैं' और 'हम', मध्यम पुरुषके 'तू', 'तैं' और 'तुम्ह'; और अन्य पुरुषके 'सो' और 'ते' हैं। इनके रूप पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गमें समान होते हैं। इनके क्रमशः सातों विभक्तियोंके रूप नीचे दिये जाते हैं—

उत्तम पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	मैं	हम

द्वितीया मोहि	हमहि
तृतीया मैं ('मैंने' के अर्थमें), मो (अथवा मोहि) तें, सैं, सन, सों, पहिं, 'करि' आदि	हम ('हमने' के अर्थमें), हम तें, सैं, सन, सों, पहिं आदि
चतुर्थी मोहि, मो कहुँ, मोहि कहुँ	हमहि, हम कहुँ
पञ्चमी मो (मोहि) तें, सैं, सन आदि	हम तें, सैं, सन आदि
षष्ठी मम, मोहि, मोरा, मेरा, मेरो, मोरी, मेरी, मोरे, मेरे	हमहि, हमार, हमारी, हमारे
सप्तमी मो (मोहि) पर, महँ, माहिं, पै आदि	हम पर, महँ, माहिं, पै आदि

मध्यम पुरुष

एकवचन	बहुवचन
प्रथमा तूँ, तैं	तुम्ह
द्वितीया तोहि	तुम्हहि
तृतीया तो (तोहि) तें, सैं, सों, सन, पहिं आदि	तुम्ह तें, सैं, सों, सन, पहिं आदि
चतुर्थी तोहि, तो कहुँ, तोहि कहुँ	तुम्हहि, तुम्ह कहुँ
पञ्चमी तो (तोहि) तें, सैं, सों आदि	तुम्ह तें, सैं, सों आदि
षष्ठी तोहि, तव, तुअ, तोरा, तेरा, तोरी, तेरी, तोरे, तेरे,	तुम्हहि, तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारे
सप्तमी तो पर, महँ, पै, माहिं आदि	तुम्ह पर, महँ पै, माहिं आदि

अन्य पुरुष

एकवचन	बहुवचन
प्रथमा सो, वह	ते
द्वितीया ताहि, तेहि, ओही	तिन्हहि, उन्हहि
तृतीया तेहिं, तेइँ, ता (तेहि) तें, सों आदि	तिन्ह, तिन्ह तें, सों आदि
चतुर्थी ताहि, तेहि, ता कहुँ	तिन्हहि, तिन्ह कहुँ

पञ्चमी	ता (तेहि) तें, सों आदि	तिन्ह (उन्ह) तें सों आदि
षष्ठी	तासु, तेहि, ता कर आदि	तिन्हहि, तिन्ह कर आदि
सप्तमी	तेहिं ता (तेहि) पर, महँ पै आदि	तिन्हहिं, तिन्ह (उन्ह) पर, महँ, पै आदि

प्रश्नवाचक सर्वनाम

(१) 'को' (पुरुषवाचक*)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	को	को
द्वितीया	केहि	किन्ह
तृतीया	केहिं, केहि तें, सें आदि	किन्ह तें, सें आदि
चतुर्थी	केहि	किन्ह
पञ्चमी	केहि तें, सों आदि	किन्ह तें, सों आदि
षष्ठी	किसु; केहि कर, केर, करि, केरि, कै, केरे, के आदि	किन्ह कर आदि
सप्तमी	केहिं, केहि पर आदि	किन्ह पर आदि

नोट—'को' के स्थानमें कहीं-कहीं 'कवन' शब्दका भी प्रयोग होता है। स्त्रीलिङ्गमें उसका रूप 'कवनि' हो जाता है।

(२) का, काह, कहा (वस्तुवाचक)

इनका प्रायः एकवचनमें ही प्रयोग होता है और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्तिको छोड़कर (जिनमें इनका मूलरूप ही रहता है) अन्य सब विभक्तियोंमें इनके रूप 'को' के समान ही होते हैं।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम 'जो'†

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	जो	जो, जे

* इसके रूप भी दोनों लिङ्गोंमें समान होते हैं।

† इसके रूप भी दोनों लिङ्गोंमें समान होते हैं।

द्वितीया	जो, जाहि, जेहि, जा (जेहि) कहुँ (को)	जिन्हहि, जिन्हि (जेन्ह) कहुँ (को)
तृतीया	जाहिं, जेहिं, जेहि (जा) तें सें आदि	जिन्ह, जिन्ह तें आदि
चतुर्थी	जाहि, जेहि, जा (जेहि) कहुँ (को) आदि	जिन्हहि, जिन्ह कहुँ (को) आदि
पञ्चमी	जा (जेहि) तें आदि	जिन्ह तें आदि
षष्ठी	जिसु, जासु, जा कर, का, को, की, के, करि, केर, केरे, के, कै, केरी	जिन्ह कर इत्यादि
सप्तमी	जेहिं, जा महँ, मो, पर, उपर आदि	जिन्ह महँ आदि

संकेतवाचक सर्वनाम 'एह' (यह)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	एह (यह)*	ये, ए
द्वितीया	एहि	इन्हहि
तृतीया	एहिं, एहि तें, सों, सन आदिइ	इन्ह, इन्ह तें, सों, सन आदि
चतुर्थी	एहि, एहि कहुँ (को)	इन्हहि, इन्ह कहुँ (को)
पञ्चमी	एहि तें, सों आदि	इन्ह तें, सों आदि
षष्ठी	एहि, एहि कर, का आदि	इन्हहि, इन्ह कर आदि
सप्तमी	एहिं, एहि महुँ, मो, पर आदि	इन्हहिं, इन्ह महुँ, मो, पर आदि

नोट—इसके रूप दोनों लिङ्गोंमें समान होते हैं।

अन्य सर्वनाम

इनके अतिरिक्त कुछ और सर्वनाम भी हैं—जैसे 'कछु', 'आपु' (संस्कृत 'आत्मन्'), 'आपुन' आदि। 'कछु' और 'आपु' का

* पुल्लिगमें इनका रूप 'एहु' तथा 'यहु' हो जायगा।

प्रयोग केवल एकवचनमें होता है । संस्कृतमें भी 'आत्मन्' शब्द सदा एकवचन रहता है । इसी बातको द्योतन करनेके लिये कदाचित् 'आप' का सभी विभक्तियोंमें 'आपु' ही रूप रहता है—जैसे 'आपुहि' । 'स्व' शब्दका गोस्वामीजीने केवल समासमें प्रयोग किया है—जैसे 'स्वकर,' 'स्वरूप', 'स्वबस' आदि । 'आपुनु' अथवा 'आपुनि' शब्द गौरववाची 'आपु' (संस्कृत भवान्) के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है—जैसे 'ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू ।' 'बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू' आदि । 'रउरे' अथवा 'राउरे' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें केवल द्वितीया और षष्ठी विभक्तिमें पाया जाता है, जैसे-'भलउ करत दुख रउरेहि लागा ।' (द्वितीया) । षष्ठी विभक्तिमें सम्बद्ध संज्ञाके पुँल्लिङ्ग एकवचन होनेपर 'राउर' अथवा 'रावरो,' स्त्रीलिङ्ग होनेपर 'राउरि,' 'रउरी' अथवा 'रावरी' और पुँल्लिङ्ग बहुवचन होनेपर 'रावरे' प्रयोग होता है ।

विशेषण

संस्कृत व्याकरणके अनुसार मानसके विशेषणोंमें भी विशेष्यके लिङ्ग और वचनके अनुसार परिवर्तन होता है । विशेष्य यदि स्त्रीलिङ्ग हो तो विशेषणोंको भी प्रायः 'इ' प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिङ्ग बना दिया जाता है-जैसे 'आगिल' से 'आगिलि', 'पाछिल' से 'पाछिलि', 'सीतल' से 'सीतलि', 'बिबिध' से 'बिबिधि', 'सुहावन' से 'सुहावनि' और 'पावन' से 'पावनि' हो गया । इसी प्रकार आकारान्त विशेषणोंके वचनमें भी परिवर्तन होता है—जैसे 'भला' शब्दके एकवचनमें 'भल' अथवा 'भलो', तथा बहुवचनमें 'भले' रूप होता है । 'भी' के अर्थमें 'उ' प्रत्यय लगनेपर एकवचनमें भी एकारान्त प्रयोग ही मिलते हैं, जैसे 'भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ।'

कुछ खास प्रकारके विशेषण

(१) सादृश्यवाचक विशेषण

'अस' अथवा 'ऐसा', 'जस' अथवा 'जैसा', 'तस' अथवा 'तैसा' अथवा 'वैसा' और 'कस' अथवा 'कैसा'—ये चारों एक प्रकारके शब्द

हैं। इनका क्रियाविशेषणके रूपमें भी प्रयोग मिलता है। वहाँ 'ऐसा' के स्थानमें 'ऐसें', 'जैसा' के स्थानमें 'जैसें' 'तैसा' और 'वैसा' के स्थानमें 'तैसें' और 'वैसें' और 'कैसा' के स्थानमें 'कैसें' रूप मिलता है। इनके अतिरिक्त 'सम', 'समान', 'सरिस', 'सारिखा', 'समतूल' आदि शब्दोंका भी मानसमें प्रचुरताके साथ प्रयोग हुआ है। केवल 'सा' का भी इसी अर्थमें प्रयोग हुआ है—जैसे 'मुखिया मुख सो चाहिऐ', 'सुधा सी', 'राम लखन से भाइ' इत्यादि।

(२) परिमाणवाचक विशेषण

'एता' अथवा 'एतना', 'जेता' अथवा 'जेतना', 'तेता' और 'केता'—ये चारों एक प्रकारके शब्द हैं।

(३) अन्यवाचक विशेषण

'आन' (अन्य), 'अपर', 'अवर' और 'और' (अउर) ये चारों एकार्थवाची शब्द हैं।

(४) आत्मवाचक विशेषण

'अपना'* (अथवा 'आपन') और 'निज'—ये दोनों एकार्थवाची शब्द हैं।

नोट—सर्वनामोंमें लिङ्गके अनुसार कोई भेद नहीं होता।

(५) संख्यावाचक विशेषण

'एक' शब्दके स्थानमें गोस्वामीजीने पुँल्लिङ्गमें प्रायः 'एकु' शब्दका प्रयोग किया है। इसका कारण यही मालूम होता है कि 'एक' शब्द सदा एकवचनमें प्रयुक्त होता है।

'दो' के अर्थमें गोस्वामीजीने 'दो', 'दुइ' तथा 'जुग' शब्दोंका प्रयोग किया है; 'तीन' के अर्थमें 'तीनि' का और 'चार' के अर्थमें 'चारि' शब्दका प्रयोग किया गया है। ये क्रमशः संस्कृतके 'त्रीणि' और 'चत्वारि' शब्दोंके बिगड़े हुए रूप हैं। 'तीन' के स्थानमें समासमें

---

* 'अपान' और 'अपनपौ' इसीसे बनी हुई भाववाचक संज्ञाएँ हैं, जिनका अर्थ है 'अपनापन' अथवा 'अपना स्वरूप'।

'त्रय' शब्दका भी प्रयोग हुआ है—जैसे तापत्रय अथवा त्रयताप (त्रिताप), त्रयलोका (त्रिलोकी) इत्यादि। 'छः' के स्थानमें 'छह' शब्दका प्रयोग हुआ है। समासमें 'छह' के 'ह' का लोप हो जाता है—जैसे छरस (षट्रस)। बाकी संख्याओंका रूप आजकलकी भाँति ही है। दसके ऊपरकी संख्याको प्रायः तोड़कर प्रयोगमें लिया गया है—जैसे 'चौदह' के स्थानमें 'चारिदस', 'दस चारि' और 'दुइ साता'; 'सोलह' के स्थानमें 'नव सप्त'; 'पचीस' के स्थानमें 'पंच बीस' और 'सत्ताईस' के स्थानमें 'सत अरु बीसा' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'ढाई' के स्थानमें गोस्वामीजीने 'अढ़ाई' और 'ड्योढ़ा' के स्थानमें 'डेवढ़' शब्दका प्रयोग किया है।

क्रमवाचक विशेषणोंमें गोस्वामीजीने 'दूसरे' के स्थानमें 'दूजा' तथा 'दूसर' शब्दोंका, 'तीसरे' के स्थानमें 'तीसर' अथवा 'तीजा' शब्दका, 'सातवें' के अर्थमें 'सातवँ' शब्दका और 'आठवें' के अर्थमें 'आठवँ' शब्दका प्रयोग किया है। बाकी शब्दोंका प्रयोग आजकलके समान ही हुआ है। आवृत्तिवाचक शब्दोंमें 'दुगुने' के लिये 'दुगुन' तथा 'दून' दोनों शब्दोंका प्रयोग मिलता है। अन्य शब्द आजकलकी भाँति ही हैं। 'दुगुन' शब्द संस्कृतके 'द्विगुण' से बना है और 'दुगुन' के 'ग्' का लोप कर देनेसे 'दून' बन जाता है।

समग्रताको द्योतन करनेके लिये संख्यावाचक विशेषणोंके पीछे 'भी' का समानार्थक 'उ' प्रत्यय लगा दिया जाता है। जैसे—'दोउ', 'दोनउ', 'दूनउ'। 'दोउ' के स्थानमें भागवतदासजीकी प्रतियोंमें प्रायः बराबर 'द्वौ' शब्द मिलता है, जो कदाचित् 'दोउ' को ही उच्चारण साम्यसे शुद्ध करके लिखा गया है। राजापुरके अयोध्याकाण्डमें और अयोध्याके बालकाण्डमें भी बराबर 'दोउ' प्रयोग मिलता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्तिके अतिरिक्त अन्य विभक्तियोंमें 'दोउ' के स्थानमें 'दुहूँ' अथवा 'दुहुँ' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इनके अतिरिक्त 'दोनों' के अर्थमें 'दुऔ' (जो कदाचित् 'द्वौ' का ही बिगड़ा हुआ रूप है), 'उभौ',

'उभय', 'जुगल', 'जोरी' तथा 'जोटा' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इनमेंसे 'जोरी' और 'जोटा' (आधुनिक 'जोड़ा') शब्द तो समुदायवाचक संज्ञाएँ हैं।

'दो' के समान 'तीनि' से 'तीनिउ' अथवा 'तीनिहु' (तीनों), 'चारि' से 'चारिउ' (इसीका व्रजभाषामें 'चारयो' रूप हो गया, जिसका गोस्वामीजीने भी प्रयोग किया है) अथवा 'चारिहु' रूप हो गया। अनिश्चित संख्याका बोध करानेके लिये कुछ संख्याएँ एक साथ बोली जाती हैं--जैसे 'एक दुइ', 'सत पंच', 'दस पाँच', 'दुइ चारि' इत्यादि। कहीं-कहीं 'लगभग' अर्थमें अथवा 'अनिश्चित' अर्थमें अन्य संख्यावाचक शब्दों तथा 'कछु', 'कोइ' आदि सर्वनामोंके पीछे 'एक' अथवा उसका घिसा हुआ रूप 'क' जोड़ दिया जाता है--जैसे 'दुइ चारिक' (दो-चार), 'सात एक' (लगभग सात), 'पचासक' (लगभग पचास), 'छसातक' (छः सात), 'कछुक' (कुछ), 'कछु एक', 'केउ एक', 'केतिक' आदि। किसी-किसी विशेषण अथवा क्रियाविशेषणके पीछे भी इस प्रकार 'क' का प्रयोग किया गया है--जैसे 'बहुतक' (बहुत-से), 'कबहुँक' (कभी-कभी) 'बारक' (एक बार) इत्यादि। 'दोउ' शब्दके प्रयोगमें गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें एक विशेषता और पायी जाती है। वह यह है कि किन्हीं दो व्यक्तियोंका उल्लेख प्राप्त होनेपर गोस्वामीजी उनमेंसे एक ही व्यक्तिका उल्लेख करते हैं और उसके पीछे 'दोउ' शब्द देकर दूसरेको भी अन्तर्गत कर लेते हैं। जैसे 'पठए बोलि भरतु दोउ भाई।' यहाँ 'भरतु' शब्दसे भरत और शत्रुघ्न दोनोंका ग्रहण हो जाता है।

क्रियाओंके दो रूप

संस्कृतमें जिस प्रकार क्रियाओंके दो रूप होते हैं—(१) तिङन्त और (२) कृदन्त, उसी प्रकार मानसमें भी क्रियाओंके दो रूप मिलते हैं। इनके लिये भी हम 'तिङन्त' और 'कृदन्त' शब्दोंका ही व्यवहार करेंगे। तिङन्त क्रियाओंका कर्ता प्रथमा विभक्तिमें रहता है और उनके रूपमें काल, वचन आदिका भेद होता है। तिङन्त क्रियाओंमें लिङ्गका

भेद नहीं होता। दोनों लिङ्गोंमें एकही-से रूप होते हैं। कृदन्तके रूपोंमें कहीं-कहीं लिङ्गका भेद भी होता है, जैसा कि आगे उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट किया जायगा।

क्रियाओंका रूपान्तर

क्रियाओंमें वाच्य, काल, पुरुष, वचन और कहीं-कहीं लिङ्गके कारण विकार होता है। इसके उदाहरण आगे दिये जायँगे। धातुके पीछे 'जाना' क्रिया जोड़कर भी कर्मवाच्यके प्रयोग बनाये जाते हैं—जैसे 'मारे जैहहिं' (मारे जायँगे) इत्यादि। ऐसे स्थानोंमें मूल क्रियाके भूतकालका कृदन्तरूप व्यवहृत होता है और उसमें लिङ्ग, वचन एवं पुरुषके अनुसार परिवर्तन होता है।

काल-भेद

(१) वर्तमान*

वर्तमान कालमें क्रियाओंके रूप पुरुष तथा वचन-भेदसे इस प्रकार होते हैं—

'कह' धातु (कहना)

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	कहइ, कह, कहत, कहति	कहहिं, कहत
मध्यम पुरुष	कहसि, कहहि	कहहु
उत्तम पुरुष	कहउँ	कहहिं, कहत

नोट–'कहति' प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्गमें अन्यपुरुषके एकवचनमें होता है। अन्य सब पुरुषोंके एकवचन तथा बहुवचनके रूप दोनों लिङ्गोंमें समान होते हैं। 'कहत' और 'कहति' रूप वास्तवमें कृदन्तरूप हैं, परंतु तिङन्त रूपोंकी तरह व्यवहारमें आते हैं। भूतकालके अर्थमें

* आजकलकी भाँति मूल क्रियासे वर्तमानकालिक कृदन्त बनाकर उसके आगे 'होना' क्रियाके रूप जोड़ देनेसे भी वर्तमानकालके रूप बनाये गये हैं, जैसे 'कहत हउँ', 'जानत अहऊँ', 'सोचत अहई', 'जानति हहु', 'करत हहिं' इत्यादि।

भी कहीं-कहीं वर्तमान कालका प्रयोग हुआ है। जैसे 'तहूँ सराहसि करसि सनेहू।'

(२) भूतकाल

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	कहेसि, कहिसि (स्त्रीलिङ्ग)	कहेन्हि, कहिन्हि
मध्यम पुरुष	कहेहि, कहिहि	कहेहु, कहिहु
उत्तम पुरुष	कहेउँ, कह्यों, कहिउँ (स्त्रीलिङ्ग)	कहेन्हि, कहिन्हि

(३) भविष्यत् काल

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	कहि, कहिहि, कहइगो (कहैगो*)	कहहिंगे (कहैंगे) कहिहहिं (कहिहैं)
मध्यम पुरुष	कहिहसि, कहइगो (कहैगो)	कहिहहु कहहुगे (कहिहौ, कहौगे)
उत्तम पुरुष	कहिहउँ, कहउँगो (कहिहौं, कहौंगो)	कहिहहिं, कहहिंगे, (कहिहैं, कहैंगे)

नोट—'देना' और 'लेना' क्रियाके आगे प्रत्ययके आदिके 'इ' का लोप हो जाता है—देहउँ, लेहउँ इत्यादि।

कहीं-कहीं क्रियाका मूल रूप ही तीनों कालोंमें तथा विधि-अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

(१) 'गाधिसुअन कह हृदयँ हँसि' (विश्वामित्रने कहा)।

(२) 'छुवतहि टूट पिनाकु पुराना' (छूते ही टूट गया)।

(३) 'जगु जप रामु रामु जप जेही' (संसार रामको जपता है और स्वयं राम जिन (भरतजी) को जपते हैं)।

(४) 'मागत अभिमत पाव जग' (इच्छित फल पाते हैं)।

(५) जहँ तहँ देख धरें धनु बाना (जहाँ-तहाँ देखते हैं)।

(६) 'दुख न पाव पितु सोच हमारें' (पिता दुःख न पावें)।

(७) 'पैठ भवन रथु राखि दुआरें' (भवनमें प्रविष्ट हो गया) इत्यादि।

---

* 'कहैगो' आदि रूप स्पष्ट ही व्रजभाषाके हैं।

वर्तमानकालिक कृदन्तोंके साथ 'रहना' क्रियाके रूप जोड़कर अपूर्ण-भूतकी क्रियाएँ बनायी गयी हैं—जैसे 'जात रहेउँ' (जा रहा था), 'जपत रहेउँ' (जप रहा था) इत्यादि। इसी प्रकार पूर्वकालिक कृदन्तके साथ 'जाना' क्रियाका प्रयोग करनेसे पूर्णभूतकी क्रिया बन जाती है। जैसे 'गा बिसरि' (भूल गया), 'चलि गयऊ' (चला गया), 'छुइ गयउ' (छू गया), 'लै गयऊ' (ले गया) इत्यादि। प्रारम्भसूचक अपूर्णभूत बनानेके लिये वर्तमानकालिक कृदन्तके आगे 'होना' क्रियाका प्रयोग किया है अथवा क्रियार्थक संज्ञाके बाद 'लेना' क्रियाका प्रयोग किया गया है। जैसे 'पूछत भयऊ' (पूछने लगा); 'कहन लिय' (कहना प्रारम्भ किया)।

क्रियाओंके अन्य रूप

आज्ञा अथवा विधि

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	कहउ, कहौ, कहै	कहहुँ, कहहिं
मध्यम पुरुष	कहि, कहु, कहहि, कहसि*	कहहु
उत्तम पुरुष	कहौं	कहहिं

नोट—आज्ञा और विधिके रूप केवल प्रथम पुरुषमें भिन्न होते हैं। 'कहना' क्रियाका आज्ञाके प्रथम पुरुष एकवचनमें 'कहउ' अथवा 'कहौ' रूप होगा और बहुवचनमें 'कहहुँ' रूप होगा। ये संस्कृतके 'कथयतु' और 'कथयन्तु' के विकृत रूप हैं। विधिमें क्रमशः 'कहैं' और 'कहहिं' रूप होंगे। 'कहहिं' रूप तो वर्तमानके समान ही है, एकवचनमें जहाँ वर्तमानमें 'कहइ' रूप होता है वहाँ विधिमें 'कहैं' रूप होता है, जो 'कहइ' का ही रूपान्तर है। प्राचीन प्रतियोंमें निर्विशेषरूपसे 'कहइ' 'कहैं' दोनों प्रकारके रूप वर्तमान और विधि दोनोंमें मिलते हैं। विधिमें कहीं-कहीं कृदन्त रूपोंका भी प्रयोग होता है, जैसे 'कहत'। इस प्रकारके

* भविष्यत् कालकी विधिमें एकवचनमें 'कहेसु' (कहना) और बहुवचनमें 'कहेहु' (कहोगे) रूप होता है।

प्रयोग सभी पुरुषोंमें समान होते हैं और इनमें वचनका भेद भी नहीं होता ।

हेतुहेतुमद्भूत

	एक.	बहु.
प्रथम.	कहत, कहति	कहते
मध्यम.	कहतो	कहतेहु
उत्तम.	कहतेउँ, कहत्यों	कहते

प्रेरणार्थक क्रियाएँ

धातुके आगे 'आव' प्रत्यय लगानेसे प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनती हैं, यथा—देखावहिं, बनावहिं, देखाउ इत्यादि ।

नामधातु

संज्ञा अथवा विशेषणके आगे 'इआ' अथवा 'आ' प्रत्यय लगानेसे जो क्रियाएँ बनती हैं, उन्हें नामधातु कहते हैं—यथा 'डोर' से 'डोरिआना' (रस्सीसे बाँधना), 'बिलग' से 'बिलगाना' इत्यादि ।

संयुक्त क्रियाएँ

धातुओंके कुछ विशेष कृदन्तोंके आगे (विशेष अर्थमें) कोई-कोई क्रिया जोड़नेसे जो क्रियाएँ बनती हैं, उन्हें संयुक्त क्रिया कहते हैं ।

संयुक्त क्रियाएँ छः प्रकारकी होती हैं—

(१) क्रियार्थक संज्ञाके मेलसे बनी हुई ।
(२) भूतकालिक कृदन्तसे बनी हुई ।
(३) पूर्वकालिक कृदन्तके मेलसे बनी हुई ।
(४) अपूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तसे बनी हुई ।
(५) पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तसे बनी हुई ।
(६) संज्ञाके योगसे बनी हुई ।

संयुक्त क्रियाओंमें नीचे लिखी सहकारी क्रियाएँ प्रयोगमें आती

हैं–उठना, जाना, देना, पाना, बनना, रहना, लगना, लेना, सकना, होना। इनमेंसे 'सकना' को छोड़ शेष क्रियाएँ स्वतन्त्र भी हैं और अर्थके अनुसार दूसरी सहकारी क्रियाओंसे मिलकर स्वयं संयुक्त क्रियाएँ भी हो सकती हैं।

(१) क्रियार्थक संज्ञाके मेलसे बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञाओंके मेलसे चार प्रकारकी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं––

(१) आरम्भबोधक, (२) अनुमतिबोधक, (३) अवकाश-बोधक और (४) इच्छाबोधक।

(१) आरम्भबोधक क्रियाएँ 'लगना' अथवा 'लेना' क्रियाके योगसे बनती हैं, जैसे 'फल खाएसि तरु तोरै लागा'; 'कहन लिअ' (कहना शुरू किया); 'हरषित बरनै लीन्ह' (वर्णन करना शुरू किया)।

(२) 'देना' जोड़नेसे अनुमतिबोधक क्रिया बनती है, जैसे 'मोहि जान दे माई', 'देइ नहिं जाना' (जाने नहीं देती)।

(३) अवकाशबोधक क्रिया अर्थमें अनुमतिबोधक क्रियाकी प्रायः विरोधिनी है। इसमें 'देना' के बदले 'पाना' जोड़ा जाता है, जैसे 'तिन्ह सिय रामु न देखन पाए।'

(४) इच्छाबोधक क्रिया 'चहना' (चाहना) क्रियाके योगसे बनती है––जैसे 'करन चहउँ रघुपति गुन गाथा', 'जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ', 'चाहहु सुनै राम गुन गाहा।'

(२) भूतकालिक कृदन्तके योगसे बनी हुई

भूतकालिक कृदन्तके आगे 'चाहना' क्रिया जोड़नेसे भी इच्छा-बोधक संयुक्त क्रिया बनती है––जैसे 'चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै', 'देखी चहउँ जानकी माता', 'गा चह पार जतनु हियँ हेरा।'

(३) पूर्वकालिक कृदन्तके मेलसे बनी हुई

पूर्वकालिक कृदन्तके योगसे दो प्रकारकी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं––

(१) अवधारणबोधक और (२) शक्तिबोधक।

(१) अवधारणबोधक क्रियासे मुख्य क्रियाके अर्थमें अधिक निश्चय पाया जाता है। नीचे लिखी सहायक क्रियाएँ इस अर्थमें आती हैं।

(१) उठना—इस क्रियासे अचानकपनका बोध होता है, जैसे 'दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू।'

(२) आना—इससे यह सूचित होता है कि क्रियाका व्यापार कर्त्ताकी ओर होता है—'बातहिं बात करष बढ़ि आई।'

(३) जाना—यह क्रिया कर्मवाच्य और भाववाच्य बनानेमें प्रयुक्त होती है; इसलिये कई एक सकर्मक क्रियाएँ इसके योगसे अकर्मक हो जाती हैं। जैसे 'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू।' 'जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू।' 'गा बिसरि दुराऊ।'

(४) बैठना—यह क्रिया आकस्मिकताको द्योतित करती है, जैसे 'धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू।'

(५) लेना—जिस क्रियाके व्यापारका लाभ कर्त्ताहीको प्राप्त होता है, उसके साथ 'लेना' क्रिया आती है—जैसे 'जानि लेउ जो जाननिहारा', 'सुचि सेवक सब लिए हँकारी' इत्यादि।

(६) देना—यह क्रिया अर्थमें 'लेना' के विरुद्ध है और इसका उपयोग तभी होता है, जब इसके व्यापारका लाभ दूसरेको मिलता है—जैसे 'कहि दीन्ह', 'तजि दीन्ह', 'बिनु पूछें मगु देहि देखाई' इत्यादि। 'देना' का संयोग बहुधा सकर्मक क्रियाओंके साथ होता है। 'रोना' आदि अकर्मक क्रियाओंके साथ इसका अर्थ बहुधा अचानकपनका होता है, जैसे 'दीन्ह बाल जिमि रोइ।'

(७) परना (पड़ना) — अवधारणबोधक क्रियाओंमें इसका अर्थ बहुधा 'जाना' के समान होता है और उसीके समान इसके योगसे कई एक सकर्मक क्रियाएँ अकर्मक हो जाती हैं, जैसे समुझना ('समुझि परइ नहिं पंथ') ।

(८) रहना—यह क्रिया बहुधा वर्तमानकालिक कृदन्तोंसे बने हुए कालोंमें प्रयुक्त होती है । इसके भूतकालसे अपूर्ण-भूतका बोध होता है–जैसे 'जात रहेउँ' (जा रहा था) ।

(३) शक्तिबोधक क्रिया 'सकना', 'पारना' आदि क्रियाओंके योगसे बनती है और मूल क्रिया अपने पूर्वकालिक रूपमें रहती है—जैसे 'राखि न सकइ न कहि सक जाहू ।' कहीं-कहीं मूल क्रियाकी क्रियार्थक संज्ञा बनाकर उसके पीछे 'सकना' आदि क्रियाओंको जोड़ते हैं, जैसे 'कहन न पारहिं' (कह नहीं सकते) ।

(४) अपूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तसे बनी हुई

अपूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तके आगे 'जाना' अथवा 'बनना' क्रियाके जोड़नेसे योग्यताबोधक क्रिया बनती है—जैसे 'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई ।'

(५) पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तसे बनी हुई

सकर्मक क्रियाओंके पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्तसे आगे 'जाना' क्रिया जोड़नेसे निरन्तरताबोधक क्रिया बनती है, जैसे 'किए जाहिं छाया जलद ।'

(६) संज्ञाके योगसे बनी हुई

संज्ञाके साथ क्रिया जोड़नेसे जो संयुक्त क्रिया बनती है, उसे नामबोधक क्रिया कहते हैं, जैसे 'छार (भस्म) होना', 'छार करना' । 'चितवत कामु भयउ जरि छारा', 'बिनु जल जारि करइ तेहि छारा' इत्यादि ।

वाच्यभेद

संस्कृतकी भाँति मानसमें भी सकर्मक क्रियाओंका कर्तृवाच्य तथा

कर्मवाच्य दोनों वाच्योंमें तथा अकर्मक क्रियाओंका कर्तृवाच्य और भाववाच्यमें प्रयोग हुआ है। संस्कृतके नियमानुसार कर्मवाच्यमें केवल अन्यपुरुषके ही प्रयोग मिलते हैं। वर्तमानकालमें धातुके पीछे एकवचनमें 'इअ' (स्त्रीलिङ्गमें 'इअति') और बहुवचनमें 'इअत' अथवा 'इअहिं' प्रत्यय लगाये जाते हैं—जैसे 'चहिअ अमिअ जग जुरइ न छाछी', 'देखिअति' (देखी जाती हैं), 'सराहिअत' (सराहे जाते हैं), 'सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल।' वर्तमानकालमें एकवचनके रूप प्रायः नहीं मिलते, अधिकांश विधिके ही प्रयोग मिलते हैं। जैसे 'सहिअ' (सहा जाय,)'राखिअ' (रक्खा जाय)। भाववाच्यमें भी विधिके ही प्रयोग मिलते हैं—जैसे 'रहिअ' (रहा जाय), 'खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें।' विधिमें 'इअ' के स्थानमें विकल्पसे 'इए' अथवा 'इऐ' का और विधिमें 'इअहि' के स्थानमें 'इअहुँ' का प्रयोग भी होता है–जैसे 'करिए' ('करिऐ'), 'ब्याहिअहुँ' (ब्याहे जायँ)। 'कीजिअ' आदिके स्थानमें कहीं-कहीं 'कीजै' अथवा 'कीजे' (किया जाय), 'जीजै' (जिया जाय), 'दीजै' (दिया जाय) आदि रूप भी मिलते हैं। कहीं-कहीं कर्तृवाच्यमें भी कर्मवाच्यके-से रूप मिलते हैं—जैसे 'बेगि पाइअहिं पीर पराई,' 'रहिअहु भरी सोहाग', 'रावन कर दीजहु यह पाती' इत्यादि।

भूत तथा भविष्यत् कालमें कर्मवाच्यमें कृदन्त प्रयोगोंसे ही काम लिया जाता है—जैसे 'लहेउ', 'लहा', 'लह्यो' (प्राप्त किया), 'पाउब' (पाया जायगा) इत्यादि। कर्मवाच्यमें भविष्यकालिक कृदन्त धातुके आगे 'ब' प्रत्यय लगानेसे बनते हैं। यह संस्कृतके 'तव्य' प्रत्ययका विकृत रूप है। कर्मके लिङ्गके अनुसार इसमें भी लिङ्गका भेद होता है। स्त्रीलिङ्गमें 'ब' के स्थानमें 'बि' का प्रयोग होता है, जैसे 'करबि सेवकाई' (सेवा की जायगी)। कहीं-कहीं कर्तृवाच्यमें भी उपर्युक्त कृदन्तका प्रयोग देखा जाता है; किंतु वहाँ उसका प्रयोग तिङन्तक्रियाके समान होनेसे उसमें लिङ्गका भेद नहीं होता—जैसे 'तेहि बधब हम निज पानि', 'बिनय

करब कर जोरि' इत्यादि। भविष्यत्‌कालकी विधिमें आदरसूचक प्रयोगोंमें स्त्रीलिङ्गमें मूल क्रियाके आगे 'इबी' (बहुवचनमें 'इबीं') प्रत्यय लगाया जाता है—जैसे 'ए दारिका परिचारिका करि जानिबीं' (ये लड़कियाँ सेविका समझी जायँ) अर्थात् इन्हें सेविका समझियेगा। कर्म पुँल्लिङ्ग रहनेपर 'इबी'के स्थानमें एकवचनमें 'इबो' और बहुवचनमें 'इबे' का प्रयोग होता है—जैसे 'अपराधु छमिबो' (अपराध क्षमा किया जाय), 'एहि राज साज समेत सेवक जानिबे' (इस राजको साजसमेत सेवक जाना जाय) इत्यादि।

कृदन्त

क्रियाके जिन रूपोंका उपयोग दूसरे शब्दभेदोंके समान होता है, उन्हें कृदन्त कहते हैं।

हिंदीमें कृदन्त दो प्रकारके होते हैं—विकारी और अविकारी; मानसमें भी उक्त दोनों प्रकारके कृदन्तोंका प्रयोग हुआ है। विकारी कृदन्त वे हैं, जिनका प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषणके समान होता है। अविकारी कृदन्तोंका प्रयोग क्रियाविशेषण अथवा सम्बन्धबोधक अव्ययोंके समान होता है। विकारी कृदन्त अर्थकी दृष्टिसे चार विभागोंमें बाँटे जा सकते हैं—(१) क्रियार्थक संज्ञा, (२) कर्तृवाचक संज्ञा अथवा विशेषण, (३) वर्तमानकालिक कृदन्त और (४) भूतकालिक कृदन्त।

(१) क्रियार्थक संज्ञाएँ क्रियाओंके मूल रूपके आगे 'इ', 'ब' तथा 'न', 'ना' अथवा 'नि' प्रत्यय लगाकर बनायी जाती हैं—जैसे 'पार जाइ कर संसय राखा।' 'जारइ जोगु सुभाउ हमारा।' 'जिअइ मरइ भल भूपति जाना।' 'भूपति जिअब मरब उर आनी।' 'तिन्हहि धरन कहुँ भुजा पसारी।' 'झूठइ लेना झूठइ देना।' 'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी।' 'ना' प्रत्यय जोड़कर जो संज्ञाएँ बनायी जाती हैं, उनकी तृतीया तथा सप्तमी विभक्तिमें पदान्तके 'अ' को 'ए' बनाकर सानुनासिक कर देते

हैं--जैसे 'टूट चापु नहिं जुरइ रिसानें।' इस प्रकारके शब्दोंका कभी-कभी विशेषणके रूपमें भी प्रयोग होता है और उनसे भविष्यकालका द्योतन होता है--जैसे 'है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं', 'भे न भाइ अस अहहिं न होने।'

(२) क्रियाके मूलरूपके आगे 'अन', 'निहार' अथवा 'वार' प्रत्यय लगानेसे कर्तृवाचक संज्ञाएँ अथवा विशेषण बनते हैं--जैसे 'धावन' (दौड़नेवाले, दूत), 'लजावन' (लजानेवाला), 'नसावन' (नष्ट करनेवाला), 'अँगवनिहारे' (अङ्गोंपर सहनेवाले), 'देखनिहारे' (देखनेवाले), 'रखवारे' (रक्षा करनेवाले) इत्यादि। 'निहार' प्रत्यय लगाकर बनायी हुई संज्ञाओंका प्रयोग कभी-कभी भविष्यत्कालिक कृदन्तके समान भी होता है--जैसे 'अब यहु मरनिहार भा साँचा' (अर्थात् अब यह अवश्य मारा जायगा), 'भयउ न अहइ न अब होनिहारा' इत्यादि। कर्तृवाचक संज्ञाओं तथा विशेषणोंका लिङ्ग तथा वचनके अनुसार रूपान्तर आकारान्त संज्ञाओं और विशेषणोंके समान होता है।

(३) वर्तमानकालिक कृदन्त सामान्यतः धातुके आगे 'त' प्रत्यय लगानेसे बनता है, जैसे 'आवत जानि भानुकुल केतू।' इसका प्रयोग बहुधा विशेषणके समान होता है--जैसे 'मरती बारा' (मरते समय)। कभी-कभी पुँल्लिङ्गमें 'त' के स्थानमें 'तो' का प्रयोग भी देखा जाता है, जैसे 'मनभावतो' (यह प्रयोग व्रजभाषाका है)। स्त्रीलिङ्ग एकवचनमें 'त' के स्थानमें कहीं-कहीं 'ति' का प्रयोग भी होता है--जैसे 'रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई।' बहुवचनमें दोनों ही लिङ्गोंमें 'त' का ही प्रयोग होता है--जैसे 'तब सखीं मंगल गान करत.... चलीं कोहबर ल्याइ कै।'

(४) भूतकालिक कृदन्त धातुके अन्तमें 'आ', 'अ' या 'आन', 'न्ह', 'अल' और 'एउ' या 'ओ' प्रत्यय लगानेसे बनते हैं--जैसे

'बोला', 'उठावा', 'मारा', 'बवा' (बोया), 'किया', 'दीख', 'सकाना' (शङ्कित हुआ), 'पिरान', 'समाना' (घुस गया), 'भुलाना', 'अकुलानी', 'सकुचाने', 'खिसिआना', 'लीन्ह', 'कीन्ह', 'मरायल' (मारा हुआ), 'धायल' (दौड़ा), 'भयउ' (भयो), 'जानेउ', 'जान्यो' इत्यादि। ये प्रत्यय अकर्मक क्रियाओंके आगे कर्तृवाच्यमें और सकर्मक क्रियाओंके आगे कर्मवाच्यमें लगाये जाते हैं।

भूतकालिक कृदन्तोंका प्रयोग कभी-कभी संज्ञाओंकी तरह भी होता है—'दसरथ के जाए (पुत्र)', 'नाथ भयउ सुख साथ गए को (जानेका)।' 'लहेउँ लाहु जग जनम भए को (होनेका)।' 'जाने कहुँ बल बुद्धि बिसेषा।'

राजनीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥

अविकारी कृदन्त या कृदन्त अव्यय चार प्रकारके हैं—(१) पूर्वकालिक, (२) तात्कालिक, (३) पूर्ण क्रियाद्योतक, (४) अपूर्ण क्रियाद्योतक और (५) प्रयोजनवाचक।

(१) पूर्वकालिक कृदन्त धातुके आगे 'इ' प्रत्यय लगानेसे बनता है—जैसे 'नाइ' (नवाकर या झुकाकर), 'करि' (करके)' 'जाइ' (जाकर), 'खाइ' (खाकर) इत्यादि। 'लेना' और 'देना' क्रियाओंसे 'लेइ' और 'देइ' के साथ-साथ विकल्पसे 'लै' और 'दै' रूप भी बनते हैं, जो वस्तुतः ब्रजभाषाके प्रयोग हैं। कहीं-कहीं इस प्रकार बने हुए रूपोंके आगे 'करि' या 'कै' और जोड़ देते हैं—जैसे 'नाइ करि', 'जाइ कै' इत्यादि। नवाकर, जाकर आदि वर्तमान प्रयोग इन्हींके घिसे हुए रूप हैं।

'एँ' प्रत्यय लगाकर भी बहुधा पूर्वकालिक कृदन्त बनाते हैं—जैसे 'साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥' 'बानर मनुज जाति दुइ बारें' इत्यादि।

(२) वर्तमानकालिक कृदन्तके 'त' प्रत्ययके आगे 'हिं' अव्यय

जोड़ देनेसे तात्कालिक कृदन्त बन जाते हैं—जैसे 'छुअतहिं टूट पिनाक पुराना।' कहीं-कहीं 'हिं' न लगाकर भी इस प्रकारके अव्यय बनाते हैं– 'सुनत जुगल कर माल उठाई।'

(३) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त भूतकालिक कृदन्त विशेषणोंके बहुवचनान्त प्रयोगोंके अन्तिम वर्णको सानुनासिक बना देनेसे सिद्ध होता है, जैसे 'बीतें' (बीत जानेपर), 'गएँ' (चले जानेपर), 'परें' (पड़नेपर) इत्यादि।

(४) वर्तमानकालिक कृदन्तकी भाँति मूल क्रियाके आगे 'त' प्रत्यय लगानेसे ही अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त बन जाते हैं—जैसे 'सब कें देखत,' (सबके देखते) 'देखत तुम्हहि नगरु जेहिं जारा', 'जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी' इत्यादि।

(५) प्रयोजनवाचक अव्यय धातुके आगे 'न' प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं–जैसे 'पढ़न' (पढ़नेके लिये), 'बोलन' (बुलानेके लिये), 'बैठन' (बैठनेके लिये) इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कर्मवाच्यमें 'आई' प्रत्यय लगाकर सकर्मक क्रियाओंसे योग्यतासूचक विशेषण बनाये जाते हैं–जैसे 'तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई (हँसने योग्य, हँसीका पात्र), 'कपट चतुर नहिं होइ लखाई (पहचानने योग्य)।'

क्रियाविशेषण अव्यय

जिस अव्ययसे क्रिया अथवा विशेषणकी कोई विशेषता प्रकट होती है, उसे क्रियाविशेषण अव्यय कहते हैं। मानसमें मुख्य पाँच प्रकारके क्रियाविशेषणोंका प्रयोग मिलता है। उनके नाम ये हैं–(१) स्थानवाचक, (२) कालवाचक, (३) परिमाणवाचक, (४) रीतिवाचक और (५) प्रश्नवाचक।

(१) स्थानवाचक क्रियाविशेषणोंके भी दो भेद पाये जाते हैं–(क) स्थितिवाचक और (ख) दिशावाचक।

(क) स्थितिवाचक अव्यय निम्नलिखित हैं–इहाँ, उहाँ, तहँ, तहाँ, तहवाँ, जहँ, जहाँ, जहवाँ, कहँ, कहाँ, आगें, पाछें, सामुहें, साथ, संग, बाहेर, निकट, समीप, सर्बत्र, अनत, कतहुँ, कहूँ आदि। यथा–'इहाँ न लागिहि राउरि माया'; 'उहाँ राम लछिमनहि निहारी'; 'देखा बाल तहाँ पुनि सूता'; 'जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद';'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ ॥' 'मुनि कहँ चले बिकल की नाईं'; 'आगें रामु लखनु बने पाछें'; 'तेउ सुनि सरन सामुहें आए'; 'परिहरि सोचु चलहु बन साथा'; 'कोतल संग जाहिं डोरिआए';; 'पुनि मन बाहेर कीन्ह'; 'जाइ निकट पहिचानि तरु'; 'तेहि पाछें समीप चहुँ पासा'; 'गति सर्बत्र तुम्हारि'; 'उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ'; 'मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं'; 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान' इत्यादि।

(ख) दिशावाचक क्रियाविशेषण–इत, उत, दूरि, दाहिने, बाएँ आदि। यथा–'इत पितु बच उत बंधु सकोचू'; 'दूरि फराक रुचिर सो घाटा' इत्यादि।

(२) कालवाचक क्रियाविशेषण तीन प्रकारके होते हैं—(क) समयवाचक, (ख) अवधिवाचक (ग) पौनःपुन्यवाचक।

(क) समयवाचक—आजु, कालि, अब, अबहिं, जब, जौं, जहिआ, तब, तहिआ, जबहिं, तबहिं, तबहुँ, कबहुँ, कबहुँक, तुरत, तुरंत, आगें, पाछें, प्रथम, पुनि, बहुरि, बहोरी, फिरि आदि। यथा—'आजु राम सेवक जस लेऊँ'; 'कालि लगन भलि केतिक बारा'; 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती'; 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं' 'तब तब अवध पुरी मैं जाऊँ'; 'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ'; 'गवनब अबहिं कि प्रात'; 'मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥'; 'तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि';

'पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी'; 'कबहुँक करि करुना नर देही'; 'तुरत देउँ मैं थैली खोली'; 'चलेउ सो गा पाताल तुरंता'; 'पाछें सुमिरेसि मन महँ रामा'; 'रहा प्रथम अब ते दिन बीते'; 'पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना'; 'बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही'; 'प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी'; 'फिरि पछितैहसि अंत अभागी' इत्यादि ।

(ख) अवधिवाचक—नित, सदा, निरंतर, अजहूँ, संतत, सकृत, केवल, अंत, ओर, सर्बदा, चिरु आदि । यथा—'जौं एहिं खल नित करब अहारू'; 'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा'; 'भरहिं निरंतर होहिं न पूरे'; 'अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा'; 'संतत सुरानीक हित जेही'; 'सकृत प्रनामु किहें अपनाए'; 'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'; 'फिरि पछितैहसि अंत अभागी'; 'देव दुहूँ दिसि ओर निबाहू'; 'गिरिजा सर्बदा संकर प्रिया'; 'चिरु जीवहुँ सुत चारि चक्रबर्ति दसरत्थ के ।'

(ग) आवृत्तिवाचक—बार बार, बारंबार, दिन प्रति, पुनि आदि । यथा—'बार बार मुख चुंबति माता'; 'दिन प्रति देखउँ राति कुसपने' इत्यादि ।

(३) परिमाणवाचक क्रियाविशेषण—इनसे अनिश्चित संख्या या परिमाणका बोध होता है । उनके भेद ये हैं—

(अ) अधिकताबोधक—बहु, अति, सुठि, निपट, अधिकु, अतिसय, निर्भर आदि । यथा—'बहु दूरी', 'अति आरत पुर लोग'; 'सुठि नीके'; 'निपट निरंकुस अबुध असंकू', 'अधिकु अधिकु अधिकाइ'; 'अतिसय प्रिय मोरे', 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी' इत्यादि ।

(आ) न्यूनताबोधक—किछु अथवा कछु, कछुक इत्यादि । यथा—'कछु घाटि,' 'कछुक दूरि' इत्यादि ।

(४) रीतिवाचक क्रियाविशेषणोंका नीचे लिखे अर्थोंमें प्रयोग होता है—

(अ) प्रकार–ऐसें, कैसें, तैसें, जैसें, यथा–तथा, अनायास, सहसा, ब्यर्थ, बृथा, सहज, इमि, यों, जिमि, किमि, क्यों, परसपर, एक संग, अस, जस, तस, कस, रस रस, हठि, सबिधि, सुखेन आदि। यथा–'उभय बीच सिय सोहति कैसें। जीव ब्रह्म बिच माया जैसें ॥'; 'ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे'; 'नामु सप्रेम जपत अनयासा'; 'सहसा करि पछिताहिं बिमूढा'; 'ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई'; 'बैठे सहजहिं संभु कृपाला'; 'जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥'; 'कुसमयँ किमि कहि जात'; 'यों सनमानि सुधारि जन'; 'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं'; 'जनमे एक संग सब भाई'; 'रहहु करहु जस प्राकृत राजा'; 'राम कस न तुम्ह कहहु अस'; 'रस रस सूख सरित सर पानी'; 'ते सठ कत हठि करत मिताई'; 'सबिधि सितासित नीर नहाने'; 'कहहु सुखेन जथा रुचि जेही' इत्यादि।

(आ) निश्चय–अवसि, सही, परि, पै, तौ, फुर, साँचेहुँ, सत्य, जथारथु आदि। यथा–'जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू'; 'पुन्य बड़ तेहि कर सही'; 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेहीं'; 'मागु मागु पै कहहु पिय'; 'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा'; जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान'; 'राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली'; 'कोउ न राम सम जान जथारथु' इत्यादि।

(इ) अनिश्चय–कदाचि। यथा–'जौं कदाचि मोहि मारहिं'।

(ई) निषेधवाचक–न, नहिं, नाहिं, नाहिन, जनि। यथा–'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही'; 'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'; 'तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं'; 'नाहिन रामु राज के भूखे'; 'सोक कलंक कोठि जनि होहू' इत्यादि।

(५) प्रश्नवाचक क्रियाविशेषण–कि, किन, कत आदि। यथा–'सीय कि पिय सँगु परिहरिहि'; 'कहइ करहु किन कोटि उपाया'; 'ते सठ कत हठि करत मिताई' इत्यादि।

क्रियाविशेषणों तथा संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनामोंके पीछे भी अवधारण (निश्चय) के अर्थमें 'हिं' (हीं), 'इँ' अथवा 'इ' तथा 'भी' (सं० अपि) के अर्थमें हु-हुँ (हू-हूँ), अथवा उ-ऊँका प्रयोग होता है, यथा—'तहहिं' अथवा 'तहइँ' (वहाँ ही), 'दूरिहि ते' (दूरहीसे) 'प्रथमहिं कहि दीन्हा'; 'सुरपुर नितहिं परावन होई'; 'बारहिं बारा'; 'मनहिं मन'; 'का पूछहुँ तुम्ह अबहुँ न जाना', 'तहँहुँ', 'देह दिनहुँ दिन दूबरि होई'; 'लोभइ ओढ़न'; 'सबुइ' अथवा 'सबइ' (सब कुछ, सभी) 'पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते'; 'सोइ' (वही), 'चारिउ' (चारों), 'दोउ' (दोनों), 'तीनिउ' (तीनों), 'तेउ सुनि सरन सामुहें आए' 'जेउ कहावत हितू हमारे' इत्यादि । इनमेंसे 'इ' तथा 'उ' संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषणशब्दोंके आगे केवल प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंमें लगाये जाते हैं; अन्य विभक्तियोंमें 'हि' अथवा 'हिं' और 'हु' अथवा 'हुँ' प्रत्यय लगाये जाते हैं । अव्यय होनेपर भी इनका प्रयोग प्रत्ययोंके समान होता है और ये एक प्रकारसे शब्दोंके अङ्ग बन गये हैं । इसीसे 'हि' आदि विभक्तियोंके पहले भी इनका प्रयोग होता है, यथा—'राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ।' केवल 'तू' 'मैं' आदि पुरुषवाचक सर्वनामोंके पीछे प्रथमा आदि विभक्तियोंमें भी 'ही' का और 'हू' का ही प्रयोग होता है, यथा—'तुहू सराहसि करसि सनेहू'; 'महीं सकल अनरथ कर मूला' इत्यादि ।

संस्कृतके अकारान्त अव्ययोंको मानसमें प्रायः उकारान्त कर दिया गया है—जैसे 'आजु' (अद्य), 'अधिकु', 'जथारथु', 'चिरु' आदि । यह उकार 'म' का घिसा हुआ रूप मालूम होता है ।

सम्बन्धसूचक अव्यय (Preposition)

जो अव्यय संज्ञा (अथवा संज्ञाके समान उपयोगमें आनेवाले शब्द) के आगे आकर उसका सम्बन्ध वाक्यके किसी दूसरे शब्दके साथ

मिलता है, उसे सम्बन्धसूचक कहते हैं । प्रयोगके अनुसार ये दो प्रकारके होते हैं—(क) सम्बद्ध और (ख) अनुबद्ध । सम्बद्ध सम्बन्धसूचक संज्ञाओंकी विभक्तियोंके आगे आते हैं–जैसे 'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं';* 'रावन के पाले' इत्यादि । अनुबद्ध सम्बन्धसूचक संज्ञाके केवल रूपके साथ आते हैं—जैसे 'सखिन्ह समेत', 'तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना' 'मातु समीप कहत सकुचाहीं', 'उभय मध्य श्री सोहइ कैसी', 'पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते', 'हम सीता कै सुधि लीन्हे बिना', 'लालन जोगु लखन सुठि लोने' इत्यादि ।

सम्बन्धसूचक निम्नलिखित वर्गोंमें बाँटे जा सकते हैं—

(१) कालवाचक–आगें ।

(२) स्थानवाचक–आगें, पाछें, उपर, तर, पास, पहिं, निकट, समीप, बीच, मध्य, माझ, मझारी, अंतर, तीर आदि । जैसे–'जासु बास सुर तरु तर होई ।' 'तेहि पाछें समीप चहुँ पासा ।' 'तेहि बन निकट दसानन गयऊ ।' 'आनि धरे प्रभु पास ।' 'प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई ।' 'सीय समीप ग्रामतिय जाहीं ।' 'उभय बीच सिय सोहति कैसें ।' 'गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी ।' 'मंदिर माझ भई नभ बानी ।' 'सब के उर अंतर बसहु ।' 'प्रथम बास तमसा भयउ दूसरि सुरसरि तीर ।' 'लंका सिखर उपर आगारा ।' 'प्रगट सो तनु तव आगें सोवा ।' 'उभय मध्य श्री सोहइ कैसी ।' इत्यादि ।

(३) दिशावाचक–दिसि, ओर, तन इत्यादि । जैसे–'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥' 'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।'

(४) साधनवाचक–कर, करि आदि । जैसे–'ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि ।' 'राम बिरह करि मरनु सँवारा ।'

(५) हेतुवाचक–निति, हेतु, हित, लागि, लागें, कारन, लेखे इत्यादि। यथा–'केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।' 'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।' 'सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता।' 'जेहि लगि राम धरी नर देहा।' 'कामरूप केहि कारन आया' इत्यादि।

(६) व्यतिरेकवाचक–बिना, बिनु, रहित, हीन, बिहीन इत्यादि। यथा—'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना।' 'पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते।' 'परस कि होइ बिहीन समीरा' इत्यादि।

(७) सादृश्यवाचक–सम, नाईं, अनुहारि, अनुसार, इव इत्यादि। जैसे–'मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजें', 'करहिं छोहु सब रौरिहि नाईं'*; 'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद'; 'स्वमति अनुसारा' इत्यादि।

(८) साहचर्यवाचक–संग, साथ, समेत, सहित आदि। यथा—'नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा'; 'सीता लखन समेत'; 'नाथ साथ सुरसदन सम'; 'को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा' इत्यादि।

(९) संग्रहवाचक अथवा अवधिवाचक—लौं, लगि, प्रजंत, भरि, लहि आदि। यथा—'जब लगि न पाय पखारिहौं'; 'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते'; 'श्रवन प्रजंत'; 'भरि माघ नहाहीं'; 'जहँ लहि तव राजू' इत्यादि।

(१०) तुलनावाचक–चाहि, कहुँ आदि। यथा–'कोमल कुसुमहि चाहि'; 'जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता' इत्यादि।

---

* ओर, नाईं, हुँति आदि अव्ययोंका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग होता है, अतः उनके पहले स्त्रीलिङ्गकी विभक्तियाँ अथवा विशेषण लगाये जाते हैं। जैसे—'समुझि आपनी ओर'; 'रौरिहि नाईं', 'मोरि हुँति' इत्यादि।

(११) अधीनतावाचक—अधीन या आधीन, बस, पाले, हवाले आदि । यथा—'रहा बिबाहु चाप आधीना'; 'लरिका श्रमित उनीद बस'; 'आजु करउँ खलु काल हवाले'; 'परेहु कठिन रावन के पाले' इत्यादि ।

(१२) स्वरूपवाचक—करि । यथा—'अग जग नाथु मनुज करि जाना ।'

समुच्चयबोधक अव्यय (Conjunction)

जो अव्यय (क्रियाकी विशेषता न बतलाकर) एक वाक्यका सम्बन्ध दूसरे वाक्यसे मिलाता है, उसे समुच्चयबोधक कहते हैं ।

समुच्चयबोधक अव्ययोंके मुख्य दो भेद हैं—(१) समानाधिकरण और (२) व्यधिकरण । जिन अव्ययोंके द्वारा मुख्य वाक्य जोड़े जाते हैं उन्हें समानाधिकरण समुच्चयबोधक कहते हैं । समानाधिकरण समुच्चयबोधक अव्ययोंके तीन उपभेद हैं ।

(अ) संयोजक—अरु । जैसे 'मैं अरु मोर तोर तैं माया ।'

(आ) विभाजक—अथवा, किंबा, वा, कि, की—कि, न—न, न त, नतरु, नाहिं इत्यादि । जैसे—'सरस होउ अथवा अति फीका ।' 'नृप अभिमान मोह बस किंबा ।' 'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।' 'रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा ।' 'की तनु प्रान कि केवल प्राना ।' 'भूख न बासर नीद न राती ।' 'न त मारे जैहैं सब राजा ।' 'नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी ।' 'नाहिं त कोसलनाथ कें साथ कुसल गइ नाथ ।' इत्यादि

(इ) विरोधदर्शक—पै, परंतु, किंतु, बरु इत्यादि । जैसे 'बरु तीर मारहुँ लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं ।' 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई ।' 'नरक परौं बरु सुरपुर जाऊँ ।'

जिन अव्ययोंके योगसे एक मुख्य वाक्यमें एक या अधिक आश्रित

वाक्य जोड़े जाते हैं, उन्हें व्यधिकरण-समुच्चयबोधक कहते हैं। व्यधि-करणसमुच्चयबोधक अव्ययोंके मुख्य दो भेद हैं—(१) संकेतवाचक और (२) स्वरूपवाचक।

(१) संकेतवाचक—जौं-तौं, अथवा त, जद्यपि (जदपि)—तदपि (तद्यपि) इत्यादि। यथा—'जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥' कभी-कभी 'जौं' से आतङ्क भी सूचित होता है—जैसे 'जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ।' बहुधा 'तदपि' के बिना ही अकेले 'जदपि' तथा 'जद्यपि' का और 'जदपि' के बिना ही 'तदपि' का प्रयोग भी देखनेको मिलता है—'जद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥' 'तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु।'

(२) स्वरूपवाचक—मानहुँ, मनहुँ, मनौं, जनु इत्यादि। यथा—'मानहुँ ब्रह्मानंद समाना।' 'ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि।' 'खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल' इत्यादि।

विस्मयादिबोधक अव्यय

जिन अव्ययोंका सम्बन्ध वाक्यसे नहीं रहता और जो वक्ताके केवल हर्ष-शोकादि भाव सूचित करते हैं, उन्हें विस्मयादिबोधक अव्यय कहते हैं। विस्मयादिबोधक अव्ययोंके कुछ प्रकार उदाहरणसहित नीचे बताये जाते हैं—

(१) हर्षबोधक—अहह, जय, जयति, धन्य इत्यादि। जैसे—'अहह धन्य लछिमन बड़भागी।' 'जय जय गिरिबर राज किसोरी।' 'जयति बचन रचना अति नागर' इत्यादि।

(२) शोकबोधक—हा, अहह, हर, त्राहि-त्राहि, पाहि-पाहि, आह, दइअ, हे बिधि इत्यादि। यथा—'हा जग एक बीर रघुराया।'

'अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।' 'बिहरत हृदउ न हहरि हर', 'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि-त्राहि अब मोहि।' 'पाहि नाथ हा पाहि गोसाईं।' 'आह दइअ मैं काह नसावा।' 'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला' इत्यादि।

(३) अनुमोदनबोधक--'भलेहिं'। यथा--'...भलेहिं नाथ! सिरु नाईं।'

(४) तिरस्कारबोधक--धिग, रे इत्यादि। जैसे--'रे कपिपोत बोलु संभारी' इत्यादि।

(५) स्वीकारबोधक--अनु। यथा--'देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।'

अन्तिम निवेदन

यह मानस-व्याकरण है। इस व्याकरणके तैयार करनेमें हमें श्रीयुत रेवेरेंड एडविन ग्रीव्ज़ तथा पूज्य पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठीसे बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। रेवेरेंड ग्रीव्ज़ महोदय जातिके अंग्रेज तथा ईसाई-धर्मके अनुयायी एवं प्रचारक होते हुए भी मानसके बड़े प्रेमी थे। उन्होंने सन् १८९५ में अर्थात् आजसे लगभग ६० वर्ष पूर्व, जब वे भारतवर्षमें ही थे, मानसका एक संक्षिप्त व्याकरण तैयार किया था। विदेशी होते हुए भी उन्होंने हमारे देशकी एक प्राचीन ग्रामीण भाषाका अध्ययन करनेमें इतना परिश्रम किया, यह उनके लिये विशेष प्रशंसाकी बात है और साथ ही इससे गोस्वामीजीके काव्यकी अनुपम लोकप्रियता सूचित होती है। उनकी पुस्तिका, जिसका नाम 'The Grammar of the Ramayan' है, आजकल दुष्प्राप्य है। परतु ग्रीव्ज़ महोदयने कृपापूर्वक अपनी प्रति हमारे पास भेज दी थी, जिसके लिये हम उनके अत्यधिक कृतज्ञ हैं। स्वनामधन्य साकेतवासी पं० श्रीविजयानन्दजीने भी, जिनका मानसके विशेषज्ञोंमें प्रमुख स्थान है तथा जिन्होंने अपने जीवनका बहु-मूल्य अधिकांश मानसके अध्ययन एवं प्रचारमें लगाया है, मानस-व्याकरणके

सम्बन्धमें कुछ नोट लिखे थे। वे उन्होंने कृपा करके ज्यों-के-त्यों हमारे पास बिना ही माँगे भेज दिये थे। उनसे भी हमें बड़ी सहायता मिली है। अतः हम उक्त दोनों महानुभावोंके कृतज्ञ हैं।

व्याकरणके पारिभाषिक शब्द, परिभाषा तथा वर्गीकरणकी पद्धति अधिकांश श्रीकामताप्रसाद गुरुके व्याकरणके अनुसार लिखी गयी है। इसके लिये हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

आशा है इस मानस-व्याकरणके अध्ययनसे गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित रामचरितमानसके पाठ तथा शैलीके सम्बन्धमें पाठकोंको जो शङ्काएँ होती हैं, उन सबका समाधान हो जायगा।